डॉ. आंबेदकर

दलित राजनीति की समस्याएँ

प्रफुल्ल कोलख्यान

मेरे विचार से इस देश के दो दुश्मनों से कामगारों को निपटना होगा। ये दो दुश्मन हैं, ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद...। ब्राह्मणवाद से मेरा आशय स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावनाओं के निषेध से है। यद्यपि ब्राह्मण इसके जनक हैं, लेकिन यह ब्राह्मणों तक ही सीमित नहीं होकर सभी जातियों में घुसा हुआ है। - डॉ. आंबेदकर

1. स्थिति और संदर्भः राजनीति क्या है

i. दलित एक विशुद्ध भारतीय स्थिति है और इसीलिए 'दलित राजनीति की समस्या' अपने मूल चरित्र में बिल्कुल भारतीय यथार्थ है। दलित का अर्थ और अभिप्राय सिर्फ भारतीय संदर्भ से हासिल किये जा सकते हैं। दलित समस्याओं से मिलती-जुलती समस्याएँ अन्य समाजों में भी हो सकती है, लेकिन उन पर प्रसंगवश ही चर्चा की जा सकती है। उनके साथ दलित समस्याओं को समीकृत करना समस्या के मूल से भटकाव की आशंकाओं को सघन करता है। कहना न होगा कि यह भटकाव मूल समस्या को उलझाव में डाल देता है और उसके चरित्र को समझने में बाधा उत्पन्न करता है। ऐसा कई बार शरारतन किया जाता है, तो कई बार अनजाने ही हम उस उलझन में फँस जाते हैं। कोशिश की जा सकती है कि उलझाव और भटकाव के ऐसे संदर्भों से बचा जाये। भारत बहुत बड़ा देश है, भौगोलिक रूप से ही नहीं, सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि से भी इतना वैविध्य है कि कई बार इसके देश नहीं 'महादेश' होने का भ्रम होता है। 'महादेश' न हो, तो भी इतना तो है कि कोई भी 'भारतीय स्थिति' अपनी सामाजिकता में एकार्थी नहीं हो सकती है और न पूरे भारत पर एक ही अर्थ में लागू हो सकती है। उत्तर और दक्षिण भारत की या फिर पूर्व और पूर्वोत्तर की 'दलित राजनीति' से हिंदी क्षेत्र की दलित राजनीति भिन्न हो सकती है। इस भिन्नता के कारण वहाँ की सामाजिक-आर्थिक संरचना, समकालीन राजनीतिक, सांस्कृतिक स्थिति आदि में निहित हैं। कहना न होगा कि 'दलित राजनीति की समस्या' का अपना क्षेत्रीय प्रसंग भी है। जाहिर है कि 'दलित राजनीति की समस्या' पर विचार करते हुए यहाँ व्यापक और सामान्य नजरिया ही अपनाना बेहतर होगा। विशिष्ट क्षेत्र की 'दलित राजनीति की समस्या' पर केंद्रित अध्ययन में विशिष्ट नजरिया अपनाया जा सकता है।

ii. राजनीति मूलत: 'सत्ता-विमर्श' है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में 'सत्ता' की व्याप्ति होती है। यह व्याप्ति कई बार दृश्य होती है, तो कई बार अदृश्य भी रहती है। दृश्य हो या अदृश्य किंतु 'सत्ता' की उपस्थिति वहाँ होती जरूर है। तात्पर्य यह कि सत्ता राजनीति

का केंद्रीय विधान है। कहना न होगा कि राजनीतिक आंदोलन का मकसद 'सत्ता की संरचना' में परिवर्त्तन के माध्यम से 'समाज की संरचना' में परिवर्त्तन करना होता है और सामाजिक आंदोलन का मकसद 'सामाजिक संरचना' में परिवर्त्तन के माध्यम से 'सत्ता की संरचना' में परिवर्त्तन करना होता है। दोनों एक दूसरे के पूरक भी हैं और एक दूसरे से टकराते भी हैं। यहीं पर यह स्मरण कर लेना जरूरी है कि 'सत्ता' का मतलब होता है, इच्छित परिणाम पाने की क्षमता। 'इच्छा' क्या है, और यह भी कि इच्छा का निर्माण कैसे होता है, इस पर ध्यान देना जरूरी है। 'इच्छा' उपलब्ध विकल्पों में से किसी एक विकल्प के चयन में अभिव्यक्त होती है। विकल्पों का चयन प्राथमिक रूप से आर्थिक और उसके साथ-साथ सांस्कृतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, भौतिक आदि कारणों पर, अर्थात 'जीवन-स्थितियों' पर निर्भर करता है। इस प्रसंग में, यह भी ध्यान में रखने की जरूरत है कि आर्थिक आधार को विकसित करने के भी कई विकल्प हो सकते हैं। इन विकल्पों में से किसी एक के चयन का आधार प्रमुख रूप से आर्थिक स्थिति ही मुहय्या कराती है। बच्चा स्कूल जाने के 'काम' के बदले स्कूल के सामने की चाय दूकान में प्याला धोने का 'काम' चुनता है, तो 'विकल्प के इस चयन' में उसकी 'जीवन-स्थितियों' की भूमिका को समझना मुश्किल काम नहीं है। इस चयन से भी 'जीवन-स्थितियाँ' बदलती है। 'स्कूल जानेवाला बच्चा' 'प्याला धोनेवाले बच्चे' से अधिक सामाजिक सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। इन्हें परस्पर जुड़ी कड़ियों के रूप में समझा जा सकता है। 'समझने के बाद' प्रेक्षक के पास भी कई विकल्प होते हैं -- बच्चा के माता-पिता, को भला-बुरा कहना, दूकानदार को फटकारना, व्यवस्था को दोष देना, तत्काल कुछ व्यवस्था करना या कुल्हा मटकाकर चल देना -- इनमें से एक या अनेक विकल्प को प्रेक्षक अपनी 'जीवन-स्थितियों' के अनुसार चुनता है। कहना न होगा कि 'जीवन-स्थितियों' में 'व्यक्तित्व के गुण' शामिल हैं। तात्पर्य यह कि 'जीवन-स्थितियों' की सामाजिकता और राजनीति से 'अर्थ' का गहरा संबंध होता है।

iii. सत्ता का सबसे अधिक सुपरिभाषित, स्वीकृत और प्रभावी रूप 'अर्थ' होता है। कहना न होगा कि 'इच्छा' और 'विकल्पों' के चयन की 'स्वतंत्रता' का अधिकार और 'इच्छित परिणाम' पाने का सीधा संबंध 'अर्थ' से है। 'अर्थ' का प्रवाह 'रोजगार' से

होता है। बीसवीं सदी का बीज शब्द था 'स्वतंत्रता' और इक्कीसवीं सदी का बीज शब्द है 'रोजगार'। 'मानव विकास का महत्त्वपूर्ण आधार है -- आजीविका। अधिकतर लोगों के लिए इसका अर्थ है, रोजगार। लेकिन, परेशान करनेवाला तथ्य यह है कि औद्योगिक और विकासशील देशों की आर्थिक वृद्धि से रोजगार के पर्याप्त अवसर नहीं बन पा रहे हैं। इसके अलावे आजीविका से बंचित रह जाने की स्थिति, रोजगारविहीन लोगों की योग्यताओं के विकास, महत्त्व और आत्मसम्मान को भी नष्ट कर देती है। ... तेजी से आर्थिक वृद्धि कर रही अर्थव्यवस्था में भी रोजगार के पर्याप्त अवसर नहीं बन रहे हैं।'[1] 'राजनीति' का संबंध 'सत्ता' के अर्जन की 'स्वतंत्रता' से है। 'स्वतंत्रता' का संबंध 'रोजगार' और रोजगार के 'उपलब्ध विकल्पों' में से किसी विकल्प को चुनने की स्वतंत्रता ओर आधिकारिकता से है। मतलब यह कि 'राजनीति' का संबंध 'स्वतंत्रता' और 'स्वतंत्रता' का संबंध 'रोजगार' से है। राजनीति को समझने के लिए रोजगार के रूप और प्रकार पर ध्यान देना जरूरी है। रोजगार उत्पादन के बाद वस्तु के बढ़े हुए महत्त्व के कारण उसकी कीमत में हुई बढ़ोत्तरी से उत्पन्न होता है। कीमत में बढ़ोत्तरी का संबंध 'बाजार' और 'इजारेदारी' से होता है। बढ़ी हुई कीमत के कारण प्राप्त अतिरिक्त धन के वितरण में सम्यक संतुलन के अभाव से धन एक जगह जमा होने लगता है। यह धन 'पूँजी' में बदल जाता है और फिर 'अतिरिक्त धन' का सृजन करता है। जो व्यवस्था वितरण के सम्यक संतुलन में अभाव उत्पन्न करने की पद्धतियों को अपनाती है, समाज के हाथ के बदले व्यक्ति के हाथ में अतिरिक्त धन के जमाव और उसके पूँजी में अंतरण को अपना लक्ष्य बनाती है, वह व्यव्स्था 'पूँजीवादी व्यवस्था' कहलाती है।

iv. 'पूँजीवाद' का जन्म अतिरिक्त-धन के सम्यक वितरण में असंतुलन से होता है और यह असंतुलन अंतत: सामाजिक विषमता में परिणत होता है। सम्यक वितरण के अभाव से उत्पन्न असंतुलन का दुष्प्रभाव पूँजीवाद की कतिपय विकृतियों में अभिव्यक्त होता है। 'सामाजिक विषमता' पूँजीवाद से पैदा होती है और पूँजीवाद को पोसती है। 'सामाजिक विषमता' का यह मुख्य कारण है। मुख्य कारण मानने से ही यह बात स्पष्ट है कि कारण अन्य भी हैं। इन 'अन्य' कारणों को भी समझना बहुत जरूरी है, खासकर

भारतीय परिप्रेक्ष्य में इन्हें समझना बहुत जरूरी है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में 'धन की अतिरिक्तता' के जमाव का मुख्य रूप से हिंदू धर्म के ब्राह्मणवादी गर्भ से निकले जातिवाद की सामाजिक पदानुक्रमता से और इसीलिए सामाजिक विषमता से भी गहरा रिश्ता है। कहना न होगा कि विषमताओं को प्रोत्साहन 'पूँजीवाद' से तो मिलता ही है, भारतीय परिप्रेक्ष्य में यह प्रोत्साहन 'ब्रह्मणवाद से व्युत्पन्न जातिवाद' से भी मिलता है। एक बात और जिस पर हमारा ध्यान सहज ही नहीं जा पाता है -- पुराने समय का 'ब्राह्मणवाद' ही आज के समय में अपने को 'हिंदुत्व' के रूप में अभिव्यक्त कर रहा है। ध्यान रखना चाहिए कि 'हिंदुत्व' धर्म नहीं धर्म पर आधारित एक राजनीतिक विचारधारा है। 'हिंदुत्व' को विषमता के पोषक होने का चरित्र धर्म के विषमताकारी चरित्र से विरासत में मिला है। ऐसी हालत में किसी भी कारण से और किसी भी आधार पर गठित 'जातिवाद' की प्रेरणाएँ 'हिंदुत्व' के किसी भी रूप से निर्णायक लड़ाई नहीं लड़ सकती है। बल्कि कहना यह चाहिए कि 'जातिवाद' की राजनीतिक सिद्धांतिकी अंतत: 'हिंदुत्व' की ही सेवा करती है। 'पूँजीवाद' अपने मूल चरित्र में ही सामाजिक-विषमताओं को बढ़ावा देनेवाला होता है। स्वभावतः कोई भी सिद्धांतिकी जो सामाजिक-विषमताओं को किसी भी रूप में बढ़ावा देती है 'पूँजीवाद' की मित्र सिद्धांतिकी ही होती है। स्वाभाविक ही है कि 'पूँजीवाद की सिद्धांतिकी' अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर 'धर्म' की और राष्ट्रीय स्तर पर 'हिंदुत्व' की सिद्धांतिकी से अपना गठबंधन करती है। इस गठबंधन को 'धर्म' और 'बाजार' के नव-संश्रय में पढ़ा जा सकता है।

v. 'स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व' की आकांक्षा रखनेवाली किसी भी सिद्धांतिकी को भारतीय परिप्रेक्ष्य की विशिष्टता के कारण 'पूँजीवाद और हिंदुत्व' से एक साथ लड़ना पड़ेगा। अलग-अलग नहीं। डॉ आंबेदकर के विचार महत्त्वपूर्ण हैं, 'मेरे विचार से इस देश के दो दुश्मनों से कामगारों को निपटना होगा। ये दो दुश्मन हैं, ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद...। ब्राह्मणवाद से मेरा आशय स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावनाओं के निषेध से है। यद्यपि ब्राह्मण इसके जनक हैं, लेकिन यह ब्राह्मणों तक ही सीमित नहीं

होकर सभी जातियों में घुसा हुआ है।'[2] 'दलित राजनीति' की एक प्रमुख समस्या यह भी है कि इस 'एक साथ' लड़ने की जरूरत को समझते हुए भी यह इसे अपने राजनीतिक बरताव में अपना नहीं पाती है।

vi. 'दलित राजीनीति' की समस्याओं को समझने के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। इसे खोलें तो कुछ बातें समझ में आती हैं (I) देश के दो दुश्मन हैं -- ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद। ये दोनों अंतर्गुंफित[3] हैं। ये ऊपर से दो दिखते हैं, लेकिन असल में एक ही हैं, इसलिए इन से एक साथ निपटना होगा। (II) 'ब्राह्मणवाद' के जनक ब्राह्मण हैं, लेकिन यह ब्राह्मणों तक सीमित नहीं है, यह सभी जातियों में घुसा हुआ है -- दलितों में भी यह घुसा हुआ हो सकता है। इस मुहिम का लक्ष्य सिर्फ 'ब्राह्मण' ही नहीं हो सकते हैं। (III) इनसे कामगार ही निपट सकता है। संसदीय राजनीति, बुद्धिजीवी आदि इसमें सहायक तो हो सकते हैं, लेकिन निपटना तो कामगारों को ही होगा। इसके लिए कामगारों को संगठित होना होगा। कामगारों को ऐसे संगठनों का लक्ष्य सिर्फ रोजी-रोटी से सीधे जुड़े सवालों को ही नहीं 'ब्राह्मणवाद' से निपटने से जुड़े सवाल को भी अपने एजेंडा में स्पष्ट तौर पर शामिल करना होगा। (IV) 'ब्राह्मणवाद' से लड़ने का मतलब, स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावनाओं के निषेध से लड़ना है, अर्थात स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की बहाली के लिए संघर्ष करना है।

vii. सर्वविदित ही है कि 'स्वतंत्रता, समता, बंधुत्व' की सामाजिक आकांक्षा 1789-1799 की 'फ्राँसिसी क्रांति' के दौरान एक विशेष राजनीतिक संदर्भ में अपनी पूरी ताकत के साथ उभर कर सामने आई थी। बाद के दिनों में ये आकांक्षाएँ उस राजनीतिक संदर्भ से विच्छिन्न हो गयी तो इसका मतलब यह नहीं कि ये आकांक्षाएँ पूरी या बेमानी हो गई। इसका सीधा-सा मतलब यह है कि इन आकांक्षाओं को उभारनेवाली राजनीतिक शक्ति को उसमें अपने लिए कोई लाभजनक स्थिति नहीं दिख रही थी। यह अवसर तो 'फ्राँसिसी क्रांति' के 'पहले और बाद' के मूल्यांकन का नहीं है, लेकिन यह देखने का अवसर जरूर है कि 'दलित राजनीति' के संदर्भ में

‘स्वतंत्रता, समता, बंधुत्व’ का कुछ अपना अलग और विशिष्ट अर्थ भी है। ‘दलित राजनीति’ के संदर्भ में इस विशिष्टता को ठीक से स्थिर नहीं कर पाना ‘दलित राजनीति’ की कतिपय समस्याओं के मूल में हो सकता है और है। डॉ. आंबेदकर के मंतव्य का अर्थ समझने के लिए ‘दलित राजनीति’ के ऐतिहासिक संदर्भ को याद कर लेना जरूरी है।

2. दलित राजनीति का ऐतिहासिक संदर्भ

i. ‘दलित राजनीति’ की समस्याओं को समझने के लिए इसके ऐतिहासिक संदर्भ को समझना जरूरी है। ऐतिहासिक संदर्भ में यह देखने की भी खास जरूरत है कि ’दलित राजनीति’ की समस्याओं का कितना संबंध इतिहास से है और कितना संबंध ‘मुख्यधारा की राजनीति’ की अंतर्बाधाओं से है। ऐतिहासिक संदर्भ में देखा जाये तो, आधुनिक अर्थ में भारतीय राजनीति की शुरूआत अंग्रेजों के औपनिवेशिक वर्चस्व से बाहर निकलने की छटपटाहट के साथ शुरू हुई और उसी छटपटाहट की की मति-गति से जुड़ी रही। ‘अंग्रेजों के औपनिवेशिक वर्चस्व’ से कौन-सा दुख जनमा था, यह एक बार ध्यान में लाने की जरूरत है। वह दुख था धन के विदेश चले जाने का दुख--- ‘अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी, पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी’[4]। किसका धन? इस धन में दलितों की साझीदारी कितनी थी? अगर ‘बहुत’ नहीं थी तो ‘धन के विदेश चले जाने’ का ‘बहुत’ दुख दलितों को क्यों होना चाहिए था? आजादी के आंदोलन के दौरान ‘आजादी’ का क्या अर्थ बन रहा था, इसे ठीक से नहीं समझा जाये तो ‘दलित राजनीति’ का आजादी के आंदोलन से कैसा संबंध हो सकता था, इसका अनुमान भी सहज ही नहीं लगाया जा सकता है।

ii. ‘दलित राजनीति की समस्याओं’ को समझने के लिए आजादी के आंदोलन की मुख्यधारा से ‘दलित राजनीति’ के द्वंद्वात्मक रिश्ते की ऐतिहासिकता को कोरी भावुकता से ऊपर उठकर समझना जरूरी है। आजादी के आंदोलन की मुख्यधारा से

'दलित राजनीति' के द्वंद्वात्मक रिश्ते में यह बात निहित थी कि 'दलित राजनीति' का लक्ष्य अंग्रेजों के बाह्य औपनिवेशिक शक्ति से मुक्ति के साथ ही, वर्णव्यवस्था के वर्चस्व के साथ आंतरिक उपनिवेश को मजबूत करनेवाली शक्तियों के द्वारा निर्मित आजादी के आंदोलन की मुख्यधारा के भावुकतापूर्ण राष्ट्रवाद के प्रपंच से, अर्थात 'आंतरिक उपनिवेश' से भी मुक्त होना था। आजादी के आंदोलन की मुख्यधारा सिर्फ बाहरी औपनिवेशिकता से लड़ रही थी, जबकि 'दलित राजनीति' के सामने 'आंतरिक औपनिवेशिकता' का सवाल भी मुखर था। तात्पर्य यह कि 'आजादी के आंदोलन की मुख्यधारा' की तुलना में 'दलित राजनीति' का संघर्ष दोहरा और अधिक पूर्ण होने के कारण कठिन भी अधिक था। जाहिर है कि 'दलित राजनीति' का टकराव आजादी के आंदोलन की मुख्यधारा से भी होता था। मुख्यधारा की राजनीति दलितों के दुख के प्रति इतनी संवेदनशील नहीं थी कि वह इस टकराव की तह में जाकर इसके वास्तविक कारणों को समझती और इसके औचित्य का प्रतिपादन करती। मुख्यधारा की राजनीति उलटे 'दलित राजनीति' पर मन से आजादी के आंदोलन की भागीदार नहीं बनने या रोड़ा अटकाने जैसे मिथ्या आरोपी मनोभाव से ग्रस्त हो जाती थी।

iii. आजादी के आंदोलन की 'मुख्यधारा' के न सिर्फ नैसर्गिक नेता थे गाँधी जी, बल्कि वे उसके प्रतीक पुरुष भी थे। 'दलित राजनीति' और 'मुख्यधारा' के अंतस्संबंध को जानने के लिए गाँधीजी के दृष्टिकोण को जानना भी आवश्यक है। गाँधीजी न सिर्फ महात्मा के रूप में जाने जाते हैं, बल्कि वे महात्मा थे भी। उनकी यह बद्धमूल धारणा थी कि 'अस्पृश्यता जैसे ही खत्म होगी, स्वयं जाति प्रथा भी शुद्ध हो जायेगी, अर्थात मेरे स्वप्नों के अनुसार शुद्ध हो जायेगी। यह सच्ची वर्णाश्रम व्यवस्था बन जायेगी, जिसके अंतर्गत समाज चार भागों में विभाजित होगा और प्रत्येक भाग एक दूसरे का पूरक होगा, कोई छोटा या बड़ा नहीं होगा। हिंदू धर्म के समग्र अंग के लिए प्रत्येक भाग समान रूप से आवश्यक होगा या एक भाग उतना ही आवश्यक होगा जितना दूसरा।'[5] गाँधीजी की इस धारणा को थोड़ा खोलें तो कुछ बातें साफ होती हैं: (क) सच्ची 'वर्ण व्यवस्था' अच्छी है। (ख) इसके अंतर्गत समाज चार भागों में (श्रम के आधार पर) विभाजित होता है। (ग) सच्ची 'वर्ण व्यवस्था' के अंर्तगत ये चारो विभाग

एक दूसरे से छोटे या बड़े नहीं होते, एक दूसरे के पूरक होते हैं। (घ) इन चारों विभागों के सदस्यों की सामाजिक समता का सवाल गाँधीजी की नजर से ओझल रहता है। (ङ) इन चारो विभागों के सदस्यों की आर्थिक समता का सवाल भी गाँधीजी की नजर से ओझल रहता है। (च) गाँधीजी 'वर्णव्यवस्था' को 'हिंदू धर्म' का आंतरिक मामला मानते थे और इसकी 'विकृतियों' को 'सामाजिक-धार्मिक मामला' मानते हुए इन विकृतियों को 'धर्म में निहित करुणा' के बल पर सामाजिक आंदोलन से दूर कर 'सच्ची वर्णव्यवस्था' को कायम करना चाहते थे। (छ) गाँधीजी 'दलित समस्या' को 'राजनीति' से काटते थे तथा 'धर्म' और 'समाज' से जोड़ते थे। (ज) 'दलित समस्या' को 'राजनीति' से काटने तथा 'धर्म' और 'समाज' से ज़ोड़ने के लिए गाँधीजी के द्वारा की गई 'राजनीतिक कार्रवाइयों' का गाँधीजी के 'महात्मापन' से गहरा संबंध है। (झ) गाँधीजी की इन मान्यताओं को 'मुख्यधारा की राजनीति' से अनुमोदन और समर्थन प्राप्त था।

iv. इसका नतीजा यह था कि 'मुख्यधारा की राजनीति' के अंतर्मन में यह बात बनी हुई थी कि 'दलित समस्या' का 'राजनीतिक जनतांत्रिकता' से कोई सरोकार नहीं है। अत: राजनीतिक नेताओं को इससे दूर ही रहना चाहिए; इसका सरोकार 'धर्म' से है अत: धार्मिक नेता, पंडा, पुजारी, संत, महात्मा को ही 'दलित समस्या' पर कुछ सोचना और करना चाहिए। 'दलित राजनीति' इन बातों से घोर असहमत थी। 'दलित राजनीति' के अनुसार (क) 'वर्ण व्यवस्था' अपने किसी भी रूप में अच्छी नहीं हो सकती है। (ख) 'वर्ण व्यवस्था' में 'श्रम' का नहीं, जन्म के आधार पर 'श्रमिकों' का विभाजन होता है। (ग) 'वर्ण व्यवस्था' के विभाग अनिवार्यत: एक दूसरे से बड़े या छोटे होते हैं, एक दूसरे के पूरक नहीं 'स्वामी' या 'सेवक' होते हैं। (घ) 'दलित राजनीति' में सामाजिक समता मूल और मानवाधिकार का सवाल बनकर उभरता है। (ङ) 'दलित राजनीति' मूल प्रश्न में निहित सामाजिक उलझावों में पड़कर आर्थिक समता का सवाल पूरी तत्परता से नहीं उठा पाता है। हालाँकि मुख्यधारा की राजनीति भी आर्थिक समता का सवाल नहीं उठाती है। (च) 'दलित राजनीति' किसी

भी रूप में ‘वर्णव्यवस्था’ को ‘हिंदू धर्म’ का आंतरिक मामला नहीं मानती थी। ‘धर्म में निहित करुणा’ पर उसे कत्तई विश्वास नहीं था, वह ‘राजनीति में निहित अधिकार चेतना’ को महत्त्व प्रदान करती थी। ‘वर्णव्यवस्था’ के सभी रूपों को समूल उखाड़ फेकना चाहती थी। (छ) ‘दलित राजनीति’ अपने ‘राजनीतिक एजेंडे’ में ‘दलित समस्या’ को पूरे आग्रह के साथ समेटती थी, ‘धर्म’ और ‘समाज’ से जोड़कर देखने का दौर सामाजिक आंदोलन के प्रथम चरण में पूरा हो चुका था। (ज) ‘दलित समस्या’ को ‘राजनीति’ से काटने तथा ‘धर्म’ और ‘समाज’ से जोड़ने के लिए गाँधीजी ने जो कार्रवाइयाँ की उन कार्रवाइयों को ‘दलित राजनीति’ शंका की नजर से देखती थी। इसलिए, गाँधीजी का ‘महात्मपन’ ‘दलित राजनीति’ को ढोंग सरीखा लगता था। (झ) ‘दलित राजनीति’ की इन मान्यताओं को ‘मुख्यधारा की राजनीति’ से अनुमोदन और समर्थन प्राप्त नहीं होता था। (ञ) ‘मुख्यधारा की राजनीति’ से पूरी तरह असहमत होते हुए ‘दलित राजनीति’ ‘दलित समस्या’ को ‘राजनीतिक जनतांत्रिकता’ के सरोकारों से जोड़ती थी और राष्ट्रीय स्तर के अपने राजनीतिक नेतृत्व के विकास की गहरी आकांक्षा रखती थी। ‘दलित राजनीति’ धार्मिक नेता, पंडा, पुजारी, संत, महात्मा को ‘दलित समस्या’ का कारण मानती थी और स्वभावत: इसके ‘निदान’ के लिए उन पर जरा भी भरोसा नहीं करती थी।

v. इतिहास बताता है कि ‘गाँधीजी ने जान-बूझकर हरिजन आंदोलन को सामाजिक सुधार (हरिजनों के लिए सार्वजनिक कुओं, सड़कों, ओर विशेष रूप से मंदिरों को खुलवाना, साथ में मानवतावादी कार्य) तक सीमित रखा था (यद्यपि अनेक हरिजन खेतिहर मजदूर थे), साथ ही उन्होंने समग्र रूप से जाति-व्यवस्था की भर्त्सना करने से इनकार कर दिया। उन्होंने रोटी-बेटी के व्यवहार में सावधानी बरतने की सलाह दी और मूल वर्णाश्रम धर्म की हिमायत की, जिसका परिणाम यह हुआ कि आंबेदकर ने साप्ताहिक ***हरिजन*** के लिए यह कहते हुए संदेश देने से इनकार कर दिया कि “जाति-व्यवस्था को नष्ट किए बिना अछूतों का उद्धार संभव नहीं है”।[6] याद रखना चाहिए कि ‘जुलाई 1933 और फरवरी 1934 के बीच थोड़े समय के लिए जब नेहरू जेल के

बाहर रहे तब *ह्विदर इंडिया?* शीर्षक से प्रकाशित अपने पत्रों एवं लेखों में उन्होंने गाँधीजी से अपने सैद्धांतिक मतभेदों को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया। उन्होंने 'राष्ट्रीय लक्ष्यों को जुझारू सामाजिक एवं आर्थिक कार्यक्रमों के साथ जोड़ने की आवश्यकता पर बारंबार बल दिया और 'हिंदू संप्रदायवाद की कड़ी आलोचना' की।[7] जाहिर है कि 'आजादी के आंदोलन की मुख्यधारा' और 'दलित राजनीति' में टकराव के कई बिंदु थे।

3. मुख्यधाराः भारतीय राष्ट्रवाद और दलित राजनीति

i. यह सच है कि मुख्यधारा के भारतीय राष्ट्रवाद का विकास आधुनिक चेतना के आग्रहों के अंतर्गत हुआ, लेकिन यह आधा सच है। भारतीय राष्ट्रवाद की आधुनिक चेतना ने न तो कभी आधुनिकता को पूरी तरह अपनाया न आधुनिकता की परियोजनाओं को पूरा करने में ही कोई वास्तविक दिलचस्पी दिखलाई। इस राष्ट्रवाद के नायक महात्मा गाँधी थे, संभवत: इसी अर्थ में उन्हें 'राष्ट्रपिता' कहा जाता है। गाँधीजी के राजनीतिक उपकरण मध्यकालीन चेतना से निर्मित थे--- महात्मा गाँधी की मूल्य-चेतना का शरणागति, करुणा, हृदय-परिवर्त्तन, धार्मिकता से जितना गहरा संबंध था उतना गहरा संबंध सामाजिक अंतनिर्भरताओं, आधिकारिकताओं, परिस्थति-परिवर्त्तन आदि से नहीं था। तात्पर्य यह कि 'भारतीय आधुनिकताबोध' के ऊपर पूर्व-आधुनिकताओं का बोझ पूरी तरह से लदा हुआ था। पूर्व-आधुनिकताओं में जो कर्त्तव्य राजा के थे, उन कर्त्तव्यों को 'मुख्यधारा के भारतीय राष्ट्रवाद के विकास की राजनीति' ने, अपनी तमाम सदाशयताओं के बावजूद, अपने राजनीतिक एजेंडे में स्वीकार लिया। राजा के कर्त्तव्य को देखें तो, 'ईसा की दूसरी शताब्दी के अभिलेख बताते हैं कि राजा वर्णव्यवस्था का पोषक और संरक्षक है। इसके बाद राजा के इस कर्त्तव्य की चर्चा अभिलेखों में आम तौर पर होने लगी। कलियुग का सामाजिक संकट आरंभ होने के बाद राजा के इस दायित्व पर सबसे अधिक बल दिया जाने लगा। ईसा के बाद की तीसरी शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश से चौथी शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश के पौराणिक पाठ्यांशों से पता चलता है कि आंतरिक संकट के कारण वर्णव्यवस्था बिखरने लगी। इस अवस्था को कलियुग की संज्ञा दी गई। कलि से लोगों का उद्धार करना राजा का पुनीत कर्त्तव्य बन गया। ईसा के बाद की 4-6 शताब्दियों के

अभिलेखों में स्पष्ट रूप से और बाद के पुरा लेखों में पारंपरिक रूप से राजा को वर्णधर्म का पोषक बतलाया गया है।'[8] कहना न होगा कि 'कलि से लोगों का उद्धार करना' वर्णव्यवस्था को बिखराव से बचाना है। जाहिर है कि महात्मा गाँधी जब 'सच्ची वर्णव्यवस्था' की बात करते थे, तो इसे 'राजा के कर्त्तव्य' को 'मुख्याधारा के राष्ट्रवाद की राजनीति' के द्वारा आत्मार्पित करने की ऐतिहासिकता के साथ-साथ 'दलित राजनीति की समस्या' के समकालीन संदर्भ में सचेत होकर गंभीरता से पढ़ने की जरूरत है।

ii.जवाहरलाल नेहरू यद्यपि सोच के स्तर पर गाँधीजी से सहमत नहीं थे, लेकिन अपनी असहमति के राजनीतिक बरताव का साहस या समझ कभी दिखा नहीं पाये। राष्ट्रीय लक्ष्यों को जुझारू सामाजिक एवं आर्थिक कार्यक्रमों के साथ जोड़ने की आवश्यकता पर बल देने और 'हिंदू संप्रदायवाद की कड़ी आलोचना' करने के साथ नेहरूजी महात्मा गाँधी के हरिजन आंदोलन को भटकाव मानते थे, लेकिन इसलिए नहीं कि गाँधीजी के हरिजन आंदोलन के औजार 'हिंदू संप्रदायवाद' की वर्णवादी समझ से बने थे। 'गाँधीजी के अन्य अनेक कार्यक्रमों की भांति उनके हरिजन आंदोलन के कार्यक्रमों में भी लक्ष्यों और महत्त्व को लेकर अनेक अस्पष्टताएँ देखने में आती हैं। जवाहरलाल जैसे जुझारू लोगों का विचार था कि यह कार्यक्रम साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के मुख्य कार्य से हानिकर भटकाव है; यह धारणा इस बात से भी पुष्ट होती थी कि ब्रिटिश सरकार जेल में गाँधीजी को हरिजन-कार्यक्रम सहर्ष चलाने देती थी। साथ ही, काँग्रेस के भीतर रूढ़िवादी हिंदुओं को यह नई बात अधिकाधिक खल रही थी। उदाहरण के लिए, मालवीय, जो 1920 के दशक के मध्य में गाँधीजी के अत्यंत निकट रहे थे अब उनसे दूर जाने लगे थे। हिंदू संप्रदायवादियों में इस बात से भी क्षोभ बढ़ा कि गाँधीजी ने मैकडोनल्ड -निर्णय की अन्य बातों से कोई सरोकार रखना अस्वीकार कर दिया था जिसके अनुसार पंजाब में मुसलमानों को 49 प्रतिशत और बंगाल में 48.6 प्रतिशत प्रतिनिधित्व दिया गया था (अर्थात यूरोपियन सदस्यों के साथ मिलकर इन प्रांतों में उनका बहुमत हो जाता था)। बंगाल के रूढ़िवादी हिंदुओं को इस बात पर आपत्ति थी कि पूना समझौते ने सदा के लिए सवर्ण हिंदुओं को अल्पसंख्यकों

की हैसियत प्रदान कर दी थी। किंतु जून 1934 में काँग्रेस वर्किंग कमेटी ने एक समझौतापूर्ण 'न स्वीकार न इनकार' का उपाय अपनाया जिसके फलस्वरूप मालवीय ने एक अलग नेशनलिस्ट पार्टी बनाई। अप्रैल और जुलाई 1934 में बक्सर, जसीडीह और अजमेर में सनातनियों ने गाँधीजी की हरिजन सभाओं को भंग किया, और पूना में 25 जून को उनकी कार पर बम से हमला भी किया गया। अँग्रेज सरकार भी आधुनिकीकरण का प्रभाव डालने का दावा तो करती थी, किंतु वह भी रूढ़िवादी जनमत को विरोधी नहीं बनाना चाहती थी। अत: अगस्त 1934 में सरकारी सदस्यों ने लेजस्लेटिव असेंबली में टेंपल एंट्री बिल को पराजित करने में सहायता की।'[9] इस लंबे उद्धरण से यह बात समझ में आती है कि हरिजन की सामाजिक स्थितियों को लेकर 'मुख्यधारा के भारतीय राष्ट्रवाद' का नजरिया कैसा था। न तो मदनमोहन मालवीय जैसे 'रूढ़िवादी' लोगों के मन में 'दलित प्रश्न' को महसूस करने की संवेदनशीलता थी और न ही नेहरू जैसे 'प्रगतिशील' लोगों को इस 'आंतरिक औपनिवेशिकता' से संघर्ष करने की राजनीतिक फुर्सत थी। 'मुख्यधारा के भारतीय राष्ट्रवाद' के चाल-चरित की 'स्थानापन्नता' को देखते हुए ही रवींद्रनाथ ठाकुर ने 'राष्ट्रवाद की सर्वोच्चता की धारणा' से अपने को मुक्त करना जरूरी समझा होगा! 'भारत ने कभी भी सही अर्थों में राष्ट्रीयता हासिल नहीं की। मुझे बचपन से ही सिखाया गया कि राष्ट्र सर्वोच्च है, ईश्वर और मानवता से भी बढ़कर। आज मैं इस धारणा से मुक्त हो चुका हूँ और दृढ़ता से मानता हूँ कि मेरे देशवासी देश को मानवता से भी बड़ा बतानेवाली शिक्षा का विरोध करके ही सही अर्थों में अपने देश को हासिल कर पाएँगे।'[10] रवींद्रनाथ ठाकुर की इस घोषणा के बावजूद बंगाल में 'भारतीय राष्ट्रवाद' के साथ और सहमेल में 'बाँग्ला-राष्ट्रवाद' का विकास भी बहुत तेजी से हुआ, सिर्फ विकास ही नहीं हुआ बल्कि रवींद्रनाथ ठाकुर को ही उसके केंद्रीय व्यक्ति-प्रतीक के रूप में अपनाया भी गया।

iii. पूँजीवाद की साम्राज्यवादी आकांक्षा ने 'राष्ट्रवाद' नाम के ऐसे नुस्खे का आविष्कार किया था जो हर 'मर्ज' की दवा थी--- 'राष्ट्रवाद' के नाम पर राष्ट्र के अंदर के किसी भी

विभेद, विषमता और असहमति को नजरअंदाज करते हुए पूँजी के प्रच्छन्न-हित में सभी राष्ट्रवासियों को जान देने तक के लिए 'पूँजीवाद' आसानी से प्रोत्साहित करता था। 'राष्ट्रवाद' मानवता से ऊँचा मूल्य बनकर शोषण और युद्ध की पीठिका तैयार करता था। 'राष्ट्रवाद' ऐसा दुधारी कटार था जिस से पूँजीवाद देश के अंदर भी अपना हित साधता था और बाहर भी। 'राष्ट्रवाद' मनुष्य को अंधा बनाने का ही उपाय था। जो दूसरे को अंधा बनाने की 'परियोजनाओं' पर काम करता है, उसके खुद के अंधा होते ही कितनी देर लगती है! जल्दी ही 'राष्ट्रवाद' अंधा हो गया। अंध-राष्ट्रवाद ने जो गुल खिलाये वह तो विदित ही है। यह 'दलित राजनीति' का राजनीतिक कौशल ही था कि वह 'मुख्यधारा के भारतीय राष्ट्रवाद' के अंधत्व से बहुत हद तक अपने को बचाये रखा।

iv. गाँधीजी के लिए तो हरिजन आंदोलन 'सच्ची वर्णव्यवस्था' की बहाली का ही उपाय था। 'अगस्त 1932 में मैकडोनल्ड ने सांप्रदायिक मामले में जो निर्णय दिया था, उसमें हरिजनों के लिए अलग से निर्वाचकमंडल बनाने की बात भी थी। इससे गाँधीजी को यह बात सूझी कि वे अपना ध्यान मुख्य रूप से 'हरिजन-कल्याण' पर केंद्रित करें। 20 सितंबर को गाँधीजी ने हरिजनों के लिए अलग निर्वाचकमंडल के मुद्दे के विरुद्ध 'आमरण अनशन' आरंभ कर दिया, और अंत में सवर्ण हिंदू एवं हरिजन नेताओं के बीच एक समझौता (पूना समझौता) कराने में सफल हुए। इस समझौते के अनुसार मैकडोनल्ड के प्रस्ताव में परिवर्त्तन किये गये। हिंदुओं के लिए संयुक्त निर्वाचकमंडल बने रहे जिनमें अछूतों के लिए आरक्षित सीटें रखी गई और मैकडोनल्ड की तुलना में उन्हें अधिक प्रतिनिधित्व भी दिया गया। यही व्यवस्था थी जो मूलत: 1947 के बाद भी बनी रही। अब हरिजनों का उत्थान गाँधीजी का मुख्य सरोकर हो गया। एक अखिल-भारतीय छुआछूत-विरोधी लीग की स्थापना की गई (सितंबर 1932) और गाँधीजी के रिहा होने के पूर्व ही साप्ताहिक *हरिजन* का प्रकाशन प्रारंभ किया गया। नवंबर 1933 और अगस्त 1934 के बीच उन्होंने 12,500 मील की 'हरिजन यात्रा' की और 15 जनवरी 1934 को बिहार में जो भयंकर भूकंप आया उसे

'सवर्ण हिंदुओं के पापों का दैवी दंड' कहा--- यह एक ऐसी सुधार-विरोधी बात थी, पुरातन-पंथी बात थी जिससे रवींद्रनाथ को गहरा सदमा लगा।'[11] वस्तुत: 'हरिजनों के लिए अलग से निर्वाचकमंडल बनाने की बात' एक राजनीतिक बात थी, सामाजिक नहीं। इसलिए इतना तो समझ में आना ही चाहिए कि 1932 में इस 'राजनीतिक बात' के सामने आते ही 'आजादी के आंदोलन की मुख्यधारा' ने इस 'राजनीतिक बात' को 'सामाजिक बात' बनाने की गहरी राजनीतिक चुनौती के रूप में लिया। 1932 के बाद, गाँधीजी के सामाजिक कार्यक्रमों को यही राजनीतिक चुनौती प्रेरणा और प्राण प्रदान कर रही थी।

4. हरिजन बनाम दलित

i. चूँकि 'भारतीय राष्ट्र' के गठन में गाँधीजी के विचारों को केंद्रीयता प्राप्त है, इसलिए 'हरिजन बनाम दलित' के संदर्भ को भी गाँधीजी के विचारों की केंद्रीयता में देखा जाना चाहिए। 'हरिजन' और 'दलित' का अर्थ क्या एक ही है? कुछ लोग मानते हैं कि एक ही है। ये 'कुछ लोग' कौन हैं? ये वे लोग हैं, जो गाँधीजी की अवधारणाओं का इस संदर्भ में सही मानते हैं। कुछ लोग मानते हैं कि एक ही नहीं है। ये 'कुछ लोग' कौन हैं? ये वे लोग हैं, जो गाँधीजी की अवधारणाओं का इस संदर्भ में सही नहीं मानते हैं। ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर हमें यह बात स्वीकारनी चाहिए कि 'हरिजन' और 'दलित' का अर्थ एक ही नहीं है। 'हरिजन' एक सामाजिक समूह को ध्वनित करता है। 'दलित' राजनीतिक समूह को ध्वनित करता है। 'हरिजन' की अवधारणा 'सामाजिक-न्याय' की माँग करती है। 'दलित' की अवधारणा 'राजनीतिक-न्याय' की माँग से परिचालित है। 'हरिजन' की अवधारणा 'सामाजिक संरचना' में बदलाव की माँग करती है। 'दलित' की अवधारणा 'सत्ता की संरचना' में बदलाव के लिए संघर्षशील है। 'सामाजिक-संरचना' में बदलाव की माँग बहुत ही पुरानी 'सामाजिक माँग' है, विभिन्न ऐतिहासिक अवसरों पर इसके लिए सामाजिक-सुधार के आंदोलन हुए हैं।

लेकिन इस या उस कारण से इस संदर्भ में 'सामाजिक संरचना' में कोई परिवर्त्तन घटित नहीं हुआ है। 'दलित राजनीति' का विश्वास दृढ़ होता गया है कि 'सत्ता की संरचना' में परिवर्त्तन घटित हुए बिना 'समाज की संरचना' में परिवर्त्तन का होना असंभव है। संवैधानिक प्रावधानों के होने को उनकी ऐतिहासिकता में देखें तो यह बात समझते देर नहीं लगेगी कि वे 'हरिजन' की अवधारणा से नहीं 'दलित' की अवधारणा से व्युत्पन्न हुए हैं। इस 'हरिजन' ने 'दलित' को कम नहीं छला है, लेकिन मानना होगा कि संवैधानिक प्रावधानों का होना 'हरिजन' पर 'दलित' की एक बड़ी जीत है।

ii. यह ठीक है कि 1789 की 'फ्राँसिसी क्रांति' में उठी 'समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व' की माँग और 'भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन' के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उठी 'समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व' की माँग की अपनी कुछ विशिष्टताएँ भी हैं, लेकिन इस माँग के धीरे-धीरे कमजोर पड़ते जाने के कारणों में कुछ ऐतिहासिक समानताएँ भी हैं। इन समानताओं को देखना-परखना जरूरी है। डॉ. आंबेदकर अपने लेखनाधीन निबंध 'बुद्ध और कार्ल मार्क्स' में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'समाज की नई आधारशिला फ्रांसिसी क्रांति के तीन शब्दों, बंधुत्व, स्वतंत्रता और समता में समाहित है। फ्रांसिसी क्रांति का स्वागत इसी संकल्प के कारण हुआ। यह समता लाने में विफल रही। हमने रूसी क्रांति का स्वागत किया क्योंकि यह समता लाने का लक्ष्य रखती थी। लेकिन समता लाने के नाम पर समाज बंधुत्व और स्वतंत्रता का कुर्बान नहीं कर सकता है। बिना बंधुत्व और स्वतंत्रता के समता का कोई मोल नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन तीनों को एक साथ सिर्फ बुद्ध के अनुसरण से ही हासिल किया जा सकता है। साम्यवाद एक दे सकता है, सब नहीं।'[12] डॉ. आंबेदकर 'समाज की नई आधारशिला' के रूप में 'बंधुत्व, स्वतंत्रता और समता' को तो स्वीकारते हैं, इनकी अविभाज्यता को जानते हुए भी इसे अपनी राजनीति के व्यवहार्य एजेंडे में तत्त्वांतरित नहीं कर पाते हैं। कहना न होगा कि राजनीतिक व्यवहार के एजेंडे में इसे तत्त्वांतरित नहीं कर पाना उनके राजनीतिक-दृष्टिकोण को आत्म-खंडित करता है। असल में 'बंधुत्व, स्वतंत्रता और समता' अलग-अलग न होकर मानवीय-अस्मिता के ही तीन अविभाज्य पहलू हैं।

iii. डॉ. आंबेदकर 'समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व' की अविभाज्यता को जानते थे, मानते थे--- संविधान सभा में उन्होंने कहा, 'हमें अपने राजनीतिक लोकतंत्र को सामाजिक लोकतंत्र के रूप में ढालना है। राजनीतिक लोकतंत्र तब तक नहीं टिक सकता जब तक कि उसकी आधारशिला के रूप में सामाजिक लोकतंत्र न हो। सामाजिक लोकतंत्र का क्या अर्थ है? इसका अर्थ है जीवन की वह राह जो स्वाधीनता, समानता एवं भ्रातृत्व को जीवन के सिद्धांत के रूप में मान्यता दे। स्वाधीनता, समानता एवं भ्रातृत्व के इन सिद्धांतों के त्रित्व को अलग उपादानों के रूप में न समझा जाए। ये सिद्धांत त्रित्व के समेकित रूप का निर्माण करते हैं तथा इनका आशय यह है कि एक को दूसरे से अलग करने का अर्थ है--- लोकतंत्र के मूल उद्देश्य को नकार देना। स्वाधीनता को समानता से अलग नहीं किया जा सकता, समानता को स्वाधीनता से अलग नहीं किया जा सकता और न तो स्वाधीनता और समानता से भ्रातृत्व को अलग किया जा सकता है।'[13] इसके बावजूद 'फ्राँसिसी' और 'रूसी' क्रांति के संदर्भ में 'त्रित्व' को तोड़कर उन पर अभिमत बनाना, 'दलित राजनीति' के लिए आज भी परेशान करनेवाली बात है।

iv. 'बुद्ध के अनुसरण से' ही इन्हें हासिल करना संभव होता तो यह संभव हो चुका होता। इतिहास अपने को दुहराता है, मगर इस तरह नहीं। 'बुद्ध के अनुसरण' या 'शरण' में जाने का मतलब, बाद में विकसित कई अनिवार्य प्रसंगों को नजर-अंदाज करना है। गतकाल में जाकर पुरखों से प्रेरणा लेना और बात है, लेकिन संघर्ष तो हर किसी को समकाल की कठिन भूमि पर ही करना पड़ता है। 'क्रांति का स्वागत करना' काफी नहीं होता है, जरूरी होता है क्रांति करना। क्रांति करने में योगदान करना। अपनी सामाजिक विशिष्टताओं को समझते हुए क्रांति की सही समझ विकसित करना। असल में भारत में यह सबकुछ औपनिवेशिक वातावरण में हो रहा था और औपनिवेशिकता के बहुत सारे अदृश्य प्रभाव होते हैं। इन प्रभावों को काट पाना हर समय संभव नहीं होता है। यह न डॉ. आंबेदकर के लिए संभव हुआ और न भारतीय वामपंथ के लिए ही संभव हुआ इसलिए भी, कि 'आम तौर पर, भारतीय वामपंथ जाति और वर्ग के जटिल संबंधों की ओर पर्याप्त ध्यान देने में असफल रहा।'[14]

v. दुखद है कि 'दलित राजनीति' और 'भारतीय वामपंथ' की दिशा एक थी, लेकिन वे अपनी राजनति के नैसैर्गिक साहचर्य की ऐतिहासिक आवश्यकता को सही अर्थ में आँककर न एक हो पाये, न 'मुख्यधारा की राजनीति' की साझी चुनौती को ही ठीक से समझ पाये। इस साझी चुनौती के महत्त्व के संदर्भ में एक तथ्य इतिहास से, '12 अप्रैल 1934 को बिड़ला ने ठाकुरदास को सलाह दी: "मैं चाहता हूँ कि आप भूलाभाई (देसाई) से संपर्क रखें। यदि स्वराज पार्टी को सफल होना है तो उन्हें नए चुनाव लड़ने के लिए धन की आवश्यकता पड़ेगी और मेरी सलाह है कि बंबई वह धन तबतक न दे जब तक वह इस बात के प्रति संतुष्ट न हो जाए कि सही लोगों को भेजा जा रहा है।" 3 अगस्त 1934 को बिड़ला ने पुन: लिखा: "वल्लभ भाई, राजाजी और राजेंद्र बाबू सभी कम्युनिज्म और समाजवाद के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं। अत: यह आवश्यक है कि हम में से कुछ जो स्वस्थ पूँजीवाद के प्रतिनिधि हैं, यथासंभव गाँधीजी की सहायता करें और एक साझे लक्ष्य को लेकर कार्य करें" (ठाकुरदास पेपर्स, फा.नं. 123.42[vi]।'[15] 'स्वस्थ पूँजीवाद के प्रतिनिधि' अपने साझे लक्ष्य के अंर्गत ब्रिटिश साम्राज्यवाद से लड़ने के लिए नहीं 'कम्युनिज्म और समाजवाद' के प्रसार को रोकने के लिए 'गाँधीजी की सहायता' करते थे और 'मुख्यधारा की राजनीति' को अर्थ उपलब्ध करवाते थे! देखने की बात यह है कि 'कम्युनिज्म और समाजवाद' के प्रसार को रोकने के लिए ही 'दलित' के सामने 'हरिजन' को खड़ा कर दिया गया--- 'समझदार दुश्मनों' ने हमें 'दर्पण' के सामने खड़ा कर दिया--- हम अपने-आप से लड़ते रहे! देखना दिलचस्प होगा कि हम आज भी लड़ ही रहे हैं, या स्थिति कुछ बदली भी है!

vi. डॉ. आंबेदकर बहुत ही सावधानी के साथ, आजादी और संविधान के हासिल होने के बाद उत्पन्न होनेवाली विरोधाभासी जीवन-स्थितियों की व्याख्या करते हुए कहते हैं, 'भारतीय समाज में दो बातों का पूर्णत: अभाव है। इनमें से एक समानता है। सामाजिक क्षेत्र में हमारे भारत का समाज वर्गीकृत असमानता के सिद्धांत पर

आधारित है जिसका अर्थ है, कुछ लोगों के लिए उत्थान एवं अन्यों की अवनति। आर्थिक क्षेत्र में हम देखते हैं कि समाज में कुछ लोगों के पास अथाह संपत्ति है जबकि दूसरी ओर असंख्य लोग घोर दरिद्रता के शिकार हैं। 26 जनवरी, 1950 को हमलोग एक विरोधाभासी जीवन में प्रवेश करने जा रहे हैं। राजनीति के क्षेत्र में हमारे बीच समानता होगी। राजनीति में हम एक-व्यक्ति एक-मत एवं एक-मत एक-मूल्य के सिद्धांत को स्वीकृति देंगे। पर अपने सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में वर्त्तमान सामाजिक एवं आर्थिक संरचना के चलते एक-व्यक्ति एक-मूल्य के सिद्धांत को अस्वीकार करना जारी रखेंगे। हम कब तक इस विरोधाभासी जीवन को जीते रहेंगे, अपने सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में समानता को अस्वीकार करते रहेंगे?'[16] दूसरी बात के रूप में वे 'भ्रातृत्व के अभाव' को रेखांकित करते हैं। डॉ. आंबेदकर की चेतावनी को दरकिनार करते हुए हम अपने 'सामाजिक' एवं 'आर्थिक' जीवन में समानता को अस्वीकार करते आ रहे हैं। 'उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण' के दौर में तो, इस 'अस्वीकार' को स्वाभाविकता और वैधता मिलने का मौसम ही आ गया है। इस नये मौसम में 'दलित राजनीति' को 'समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व' के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में प्रवेश के लिए नये सिरे से संगठित संघर्ष करने की चुनौती को समझना है।

5. आज की दलित राजनीति

i. इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य पर संक्षिप्त-सी चर्चा के बाद स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से लेकर आज की 'दलित राजनीति' पर विचार करना उपयुक्त होगा। 'स्वतंत्रता' के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण विकास यह हुआ कि धीरे-धीरे 'हरिजन आंदोलन' पिछड़ता गया और 'दलित आंदोलन' बढ़ता गया। यह शुभ हुआ या अ-शुभ, इस पर दो-टूक बात करना मुश्किल है। यह मुश्किल इसलिए भी कुछ अधिक है कि ऐसी चर्चा में अक्सर गुपचुप तरीके से कल्पना अपना काम करने लगती है। कल्पना में हम अपनी सुविधा और इच्छा के अनुसार अनुकूल स्थितियों का चयन कर उसे शृंखलाबद्ध कर लेते हैं, यथार्थ इसकी अनुमति नहीं देता है। ऐतिहासिक अनुभव यह बताता है कि 'हरिजन

आंदोलन’ का प्रारंभ ही हुआ था ‘दलित आंदोलन’ को दबाने के लिए। ऐसे में ‘दलित आंदोलन’ की वैधता से टकराकर ‘हरिजन आंदोलन’ अगर अप्रासंगिक होता गया तो इसे ‘दलित आंदोलन’ के लिए शुभ ही माना जाना चाहिए। लेकिन इस ऐतिहासिक दबाव से थोड़ा बाहर निकलकर यह सोचा जाये कि ‘दलित आंदोलन’ यदि पराजयोन्मुखी ‘हरिजन आंदोलन’ को अपनी अंतर्वर्त्ती सामाजिक प्रक्रिया के रूप में अनुकूलित कर अपनी राजनीतिक आकांक्षा के सामाजिक प्रतिफलन के बारे में सचेत होता तो ‘सामाजिक परिवर्त्तन’ का काम तेजी से आगे बढ़ता। इस तरह ‘राजनीतिक लोकतंत्र’ के ‘सामाजिक लोकतंत्र’ में अंतरित होते जाने की प्रक्रिया भी जारी रहती। कहना न होगा कि ‘पूँजीवाद’ ने ‘हरिजन’ और ‘दलित’ को एक दूसरे की विरोधिता में विकसित किया लेकिन यदि ‘समता-स्वतंत्रता-बंधुत्व’ के लिए संघर्षशील चेतना से संपन्न लोग संगठित रूप से ‘हरिजन’ और ‘दलित’ में ‘बंधुत्व’ की स्थिति बना पाते तो यह काम ‘पूँजीवाद’ के हितों पर चोट ही पहुँचाता। असली दुश्मन न तो ‘गाँधी जी का दृष्टिकोण’ था और न ‘हरिजन’, असली दुश्मन तो ‘पूँजीवाद’ ही था और है। अब, आज की ‘दलित राजनीति’ की समस्याओं के संदर्भ में देखें तो कुछ बातें साफ होती हैं।

ii. आज की ‘दलित राजनीति’ अपने एजेंडा में ‘ब्राह्मणवाद’ के विरोध को तो शामिल करती है, लेकिन ‘पूँजीवाद’ के सवाल पर या तो उसके पास कथ्य ही नहीं है या फिर चुप है। आज की ‘दलित राजनीति’ की व्यावहारिकता इस बात से कत्तई सचेत नहीं है कि अन्य जातियों, जिनमें दलित भी शामिल हैं, के सदस्यों में भी स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावनाओं का निषेध, अर्थात ‘ब्राह्मणवाद’ का समर्थन हो सकता है। संसदीय राजनीति की बाध्यताओं से संघर्ष करने के बदले उसकी सुविधाओं की माँग पर आज की ‘दलित राजनीति’ कई बार सामाजिक स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावनाओं का निषेध करती हुई भी प्रतीत होती है, अधिक-से-अधिक, दलितों के बीच स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावनाओं की बहाली की बात करती हुई, ‘ब्राह्मणवाद’ के एजेंडे को ही लागू कर देती है।

iii. 'कामगार' से तात्पर्य श्रम से आजीविका का उपार्जन करनेवाले से है। 'कामगारों' से मुख्य आशय सिर्फ 'संगठित क्षेत्र' के कामगारों तक सीमित होकर रह गया है। 'संगठित क्षेत्र' के कामगारों के बीच रोजी-रोटी, वेतन एवं अन्य सुविधाओं आदि के लिए श्रमिक संगठन हैं। ऐसे 'श्रम संस्थान' में भी 'श्रम-विभाजन' के साथ ही 'श्रमिक विभाजन' की नई पद्धतियों से टकराने की जरूरत को बरतने की मन:स्थिति विकसित नहीं हो पाई है। 'आरक्षण कवच'[17] के साथ जो 'कर्मचारी ऐसे प्रतिष्ठानों से जुड़ते हैं, उनका एक अलग 'प्रगतिशील' संगठन तो होता है लेकिन यह संगठन 'श्रमिक विभाजन' की प्रक्रियाओं को रोक कर सामाजिक स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावनाओं को प्रोत्साहित करने की अपनी सचेत-सक्रिय भूमिका को अपने एजेंडे में शामिल नहीं कर पाता है। होना तो यह चाहिए था कि ट्रेड युनियनें 'पूँजीवाद' की बुराइयों के खिलाफ और ऐसे प्रगतिशील संगठन 'ब्राह्मणवाद' की बुराइयों के खिलाफ अलग-अलग संघर्ष करते और आपस में ताल-मेल बनाकर 'पूँजीवाद' और 'ब्राह्मणवाद' से एक साथ निपटते। लेकिन ये दोनों ही संगठन, एक दूसरे को शक की निगाह से देखते हैं और आपसी अलगाव में पड़े रहते हैं। यह अलगाव 'पूँजीवाद' और 'ब्राह्मणवाद' की औपनिवेशिक मनोवृत्तियों को और अधिक पुष्टि एवं सामाजिक अनुकूलन प्रदान करती है।

iv. जाहिर है कि इस तरह से औपनिवेशिक मनोवृत्तियों के बने रहने और निरंतर पुष्ट होते रहने से 'स्वतंत्रता, समता, बंधुत्व' की भावना विकसित नहीं हो सकती है। आज के दौर में जब 'सभ्यताओं के संघात'[18] और नई विश्व-व्यवस्था की बात जोर-शोर से उठ रही है। 'स्वतंत्रता, समता, बंधुत्व' की भावना के नये सिरे से विकास के लिए 'नवनैतिकता' की मनोभूमि तैयार करने का दायित्व हमारे सामने है। बदलाव की नई हवा की दशा-दिशा और इससे उत्पन्न प्रदूषणों को भी समझना होगा। यह सभ्यता और संस्कृति के जटिल सवालों की पुरानी गुत्थियों के खुलने और नई गुत्थियों के बनने का दौर है। भारतीय राज और समाज की पुरानी गुत्थियाँ खुल नहीं पाई हैं और नई गुत्थियाँ तेजी से बन रही हैं। प्रत्येक क्षेत्र की देशी-विदेशी सत्ताएँ अपने-अपने तरीके

से अपनी-अपनी जनता को बाद देकर पूँजीवाद के प्रभुत्व को बढ़ाने में दिलचस्पी ले रही हैं। इतिहास बताता है कि बाहरी औपनिवेशिक दासता में जकड़नेवाले 'विदेशी अंगरेजों' और देश को आंतरिक औपनिवेशिक दासता में जकड़ रखनेवाले 'देशी प्रभुओं' के बीच कैसी कूट और कुटिल समझदारी विकसित हुई थी। असल में यह सत्ता और सत्ता के बीच की अंतर्निहित एकता है। देशी और विदेशी जैसे विशेषण सिर्फ भरमाते हैं।

v. यह याद रखना चाहिए कि 'भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष' असल में 'समस्त अंगरेज जाति' के विरुद्ध 'समस्त भारतीयों का संघर्ष' नहीं था। यह 'अंगरेज जाति की औपनिवेशिक शक्ति' के विरुद्ध उन भारतीयों का और कुछ अ-भारतीयो का भी, संघर्ष था जो एक साथ बाहरी और भीतरी दोनों ही प्रकार की औपनिवेशिक दासता से मुक्ति के लिए आग्रहशील थे। ध्यान देने की बात यह है कि सामाजिक-राजनीतिक पूर्णता के साथ यह संघर्ष 'मुख्यधारा की राजनीति' नहीं कर रही थी--- 'मुख्यधारा की राजनीति' सिर्फ बाहरी उपनिवेश के राजनीतिक और कुछ हद तक विदेशी पूँजी के वर्चस्व से लड़ रही थी जबकि 'दलित राजनीति' बाहरी और भीतरी दोनों ही प्रकार की औपनिवेशिक दासता से मुक्ति के लिए लड़ रही थी; हालाँकि देशी-विदेशी पूँजी के वर्चस्व से संघर्ष 'दलित राजनीति' के राजनीतिक एजेंडे में प्रमुखता से शामिल नहीं था। फिर भी खास अर्थ में देखा जाये तो 'मुख्यधारा की राजनीति' की तुलना में 'दलित राजनीति' अधिक पूर्णता से संघर्ष कर रही थी। भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष की पूर्णता के समर्थक अंगरेज जाति के लोगों में भी थे और इस संघर्ष की पूर्णता के विरोधी भारतीयों में भी थे। विभिन्न क्षेत्र की देशी-विदेशी सत्ताओं की बनाई पुरानी गुत्थियों को खोलने और नई गुत्थियों के बनने नहीं देने में निर्विशिष्ट मानवीय मेधा का इस्तेमाल करना चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं हो रहा है। इसका कारण सत्ता के स्वभाव में ही निहित है। दुनिया भर की सत्ताएँ अपने हित-संरक्षण के मामले में समान मनोवृत्ति से संचालित होती हैं। सत्ता की सहचरी के रूप में राजनीति में पृथक्करण की प्रवृत्ति जितनी तेज होती है, एकीकरण की प्रवृत्ति उतनी तेज नहीं होती है। पृथक्करण राजनीति की शैली है, एकीकरण सामाजिकता की शैली है। 'राजनीति'

और 'सामाजिकता' के एक साथ सक्रिय रहने से 'पृथक्करण' और 'एकीकरण' से संतुलन बना रहता है। 'राजनीति' इस संतुलन के भंग हो जाने की कीमत पर भी 'सत्ता की सीढ़ी' पकड़ने के लोभ से अपने को बचा नहीं पाती है।

vi. सत्ताएँ और सामाजिकताएँ, गोचर-अगोचर रूप से, आपस में भिड़ती रहती है। ध्यान में रहना ही चाहिए कि सत्ता अपने स्वभाव से ही भूमंडलीय व्याप्तिवाली होती है। राजा को 'जगदीश्वर' ही बताया और माना जाता है। सामाजिकताएँ अपने स्वभाव से ही स्थानिक होती है। आज के संदर्भ में ग्लोबल और लोकल के संघर्ष का संदर्भ सत्ता और सामाजिकता से जुड़ा हुआ है। सत्ता अपने को ईश्वर मानती है और इस मामले में उसका स्वभाव 'एकेश्वरवादी' होता है। दो सत्ताएँ एक साथ अस्तित्व में रह नहीं सकती है, इसलिए उनमें वर्चस्व का संघर्ष सदा जारी रहता है। आज की 'सत्ता' का नाम 'पूँजी' है। बड़ी सत्ता छोटी-छोटी 'सत्ताओं' को व्यावहारिक रूप से अधीनस्थ 'सामाजिकताएँ' ही मानती है। उदाहरण के लिए विकसित देश की सत्ता की नजर में विकासशील देश की कोई सत्ता नहीं होती, महज सामुदायिकताएँ या अधिक-से-अधिक 'सामाजिकताएँ' होती है; इसलिए विकासशील राष्ट्रों की 'संप्रभुता' का कोई अर्थ नहीं होता है। अब एक गंभीर सवाल से हमारा सामना होता है। यह सवाल है, 'राष्ट्र की संप्रभुता' के असली अर्थ को ढूढ निकालने का। इस अर्थ को ढूढने में कठिनाई कहाँ है? पहली कठिनाई यह है कि 'बहुराष्ट्रीय आवारा पूँजी' के बढ़ते वर्चस्व के इस दौर में जब 'राष्ट्रों की राजनीतिक सीमाएँ' तेजी से भंजनशील हो रही हैं और 'बहुराष्ट्रीय आवारा पूँजी' की आकांक्षित और संपोषित 'अधि-राष्ट्रीयता'[19] उठान पर है, तब 'राष्ट्रों की संप्रभुता' का वास्तविक अर्थ क्या ठहरेगा? कल तक हम यह मानते रहे हैं कि 'संप्रभुता' राष्ट्र की जनता में निवास करती है, लेकिन अब यह स्पष्ट होता जा रहा है कि 'संप्रभुता' का असली निवास 'पूँजी' में होता है। किसकी 'पूँजी' में? राष्ट्र की 'पूँजी' में? लेकिन राष्ट्र तो 'पूँजी प्रक्षेत्र' से बाहर हो रहे हैं! असल में नई विश्वव्यवस्था का तकाजा है कि जिसकी 'पूँजी' होगी, 'संप्रभुता' भी उसी की होगी; चाहे वह व्यक्ति हो, कोई कंपनी हो, या कुछ और ही क्यों न हो। जिसकी जितनी

‘पूँजी’ होगी, उसकी उतनी ‘संप्रभुता’ होगी! कहना न होगा कि ‘परुष पुरातन की बधु’ होने के कारण ‘पूँजी’ अपने स्वभाव से ही चंचल होती है, ‘पूँजी’ का चांचल्य ‘संप्रभुता’ को भी चंचल बनाता है।

vii. अब समस्या यह कि जब ‘राजनीतिक राष्ट्रों की संप्रभुता’ ही नहीं बचेगी, तब ‘सामाजिकताओं का सम्मान’ और ‘नागरिकों के राजनीतिक एवं मानव अधिकार’ ही कैसे बचेंगे? ‘पुरानी विश्वव्यवस्था’, यानी राजनीतिक नियंत्रण, सामाजिक संतुलन और जनतांत्रिकता में निहित जनाधिकार की समतोन्मुखी आकांक्षित संवैधानिक व्यवस्था, की आधारभूत संरचना में परिवर्त्तन किये बिना उसकी अंतर्वस्तु में विचलनकारी गुणात्मक परिवर्त्तन कर, ‘नई विश्वव्यवस्था’ तैयार की जा रही है। ‘पुरानी विश्वव्यवस्था’ की अवधारणाओं में ‘नई विश्वव्यवस्था’ चुपके से नया और पुराने से भिन्न तथा विपरीत अर्थ भरती है। ‘नई विश्वव्यवस्था’ शब्दों के निहितार्थ को बदल रही है। कभी ‘फ्रैंडली फायर’ और ‘कोलेटरल डैमेज’ जैसे विरोधी अर्थों को एक शब्द-युगम में नत्थीकर उनमें नये निहितार्थ का संपुट किया जा रहा है, तो कभी शब्दों को जस का तस बनाये रखकर भी उसकी मूल संकल्पना को बदलने की कोशिश की जा रही है। बदली हुई संकल्पना को वैकल्पिक अर्थ बताया जाता है। ‘नई विश्वव्यवस्था’ वैकल्पिक अर्थ के स्थिर होने की जाँच करती रहती है। हाल ही में इस तरह की जाँच का अभियान ‘वाशिंगटन पोस्ट’ ने चलाया था। पाठकों से ‘शब्दों के वैकल्पिक अर्थ’ के बारे में सुझाव माँगा गया था। ‘नई विश्वव्यवस्था’ की धमक के पहले कौन कह सकता था कि ‘मुक्ति’ और ‘जनतंत्र’ का वह अर्थ है जिस अर्थ में अमेरीकी प्रशासन, खासकर अफगानिस्तान और इराक में, उसका इस्तेमाल करता है! ‘लिबरलेजाइशन’ या ‘उदारीकरण’ का ऐसा अर्थ भी हो सकता है, किसने सोचा था! राजसत्ता ने हमेशा भाषा पर कब्जा करने की भी कोशिश की है। राज-सत्ता की कोशिश के सफल होने के साथ ही जनसत्ता ने अपनी भाषा को बदल दिया है। भाषाओं के विकास के सामाजिक प्रसंग को ध्यान में रखा जा सकता है। ऐसा नहीं होता तो ‘भद्र’ का विकसित रूप ‘भद्द और भद्दा’ कैसे हो जाता! पुराने शब्दों में नये

और विपरीत अर्थों की तानातानी होने पर बौद्धिक विमर्श में ‘तर्क की ताकत’ कम होती है और ‘ताकत का तर्क’ अधिक प्रभावी होता है। जाहिर है, वाद-विवाद तो खूब होता है, लेकिन संवाद कभी सफल नहीं होता है। इस ‘नई विश्वव्यवस्था’ में ‘पूँजी की संप्रभुता’ का विन्यास है और इससे ‘श्रम की सत्ता’ का सत्यानाश होते जाना तय है। ‘श्रम की सत्ता’ के सत्यानाश का मतलब मनुष्यता की सत्ता के नाश के अलावे और हो ही क्या सकता है! मुख्य सवाल यह है कि ‘श्रम की सत्ता’ को बचाने के लिए क्या किया जा सकता है?

viii. ‘सत्ता’ की डोरी आंदोलनों के जरिये तैयार होती है। ‘दलित राजनीति की समस्या’ के खास संदर्भ में देखें तो एक बड़े और टिकाऊ सामाजिक-राजनीतिक आंदोलन चलाने की तैयारी में लगना सबसे बड़ी समस्या है। इस तैयारी की पहली बड़ी समस्या ‘दलित’ की पहचान को लेकर ही है। खासकर आंदोलन के लिए इस पहचान का संकट और गहरा है। ‘दलित राजनीति’ का एक बड़ा अंश ‘दलित पहचान’ को जन्म से जोड़ता है। मुश्किल यह है कि ‘जन्म’ के आधार पर ‘पहचान’ तो ब्राह्मणवाद का सिद्धांत और लक्षण है। दलित नेता इस बात को जाने हुए भी क्यों ‘बह्मणवाद’ के औजार को अपनाते हैं या अपनाने के लिए विवश होते हैं। डॉ. आंबेदकर ने तो कहा था कि ‘ब्राह्मणवाद’ सिर्फ ब्राह्मणों तक सीमित न होकर सभी जातियों में घुसा हुआ है, आशय यह कि यह ‘दलितों’ में घुसा हो सकता है। ‘दलित राजनीति’ का लक्ष्य सिर्फ ‘दलितों’ तक ही सीमित क्यों हो? ‘दलित राजनीति और आंदोलन’ का लक्ष्य सिर्फ ‘दलित विरोधी’ को उखाड़ फेकना ही क्यों हो, ‘दलित राजनीति और आंदोलन’ का लक्ष्य मानवता विरोधी, समता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व विरोधी सारी शक्तियों का विरोध क्यों न हो? इन सवालों से टकराते हुए ‘दलित आंदोलन और राजनीति’ को अपने लक्ष्य के अनुकूल ‘विचारधारा’ का विकास करना जरूरी है। कहना न होगा कि विचारधारा के विकास में पहले से उपलब्ध विचारधाराओं की अनुकूलताओं को सावधानी से परखना भी जरूरी होता है। लक्ष्य और विचारधारा के अनुसार

दीर्घकालिक और तात्कालिक कार्यक्रम की रूप-रेखा तैयार करने के लिए नेतृत्व और संगठन पर काम करना और इन्हें सूत्रबद्ध करना बड़ी समस्या है।

ix. लक्ष्य, विचारधारा, कार्यक्रम, नेतृत्व और संगठन जैसे अनिवार्य घटक एक-दूसरे से स्वायत्त न होकर परस्परावलंबित होते हैं। ये आंदोलन के अविभाज्य घटक हैं। इन में से किसी एक का भी अभाव आंदोलन को विकलांग बनाता है। जीवन के मूल्य-समुच्चय की आंतरिक प्रणाली में नये मूल्य के समायोजन या फिर एक मूल्य-समुच्चय को तजकर सर्वथा नये मूल्य-समुच्चय को अपनाने के लिए एक मूल्यबोध से दूसरे मूल्यबोध तक की यात्रा में व्यक्तिगत रूप से सहमत होकर सामूहिक रूप से क्रियाशील होने से ये घटक संघटित होकर आंदोलन का रूप लेते हैं। कोई राजनीतिक कार्रवाई तब आंदोलन हो जाती है, जब उसमें व्यापक जनता की भागीदारी होती है और जो उस कार्रवाई में सक्रिय रूप से शामिल नहीं होते हैं, यहाँ तक कि जो उसके प्रत्यक्षतः लाभार्थी नहीं भी होते हैं, उनकी भी सहमति और सहानुभूति अर्जित करती है। यह विमर्श काफी दिलचस्प हो सकता है कि आंदोलन के भीतर से उसके ये घटक बनते हैं या इन घटकों के मिलने से आंदोलन बनता है। लेकिन मुख्य बात यह है कि न तो कोई आंदोलन पूर्णत: स्वत:स्फूर्त्त होता है और न पूर्णत: निदेशित। हालाँकि राजनीतिक और सामाजिक परिवर्त्तन की सही मति ओर गति रेखाएँ एक दूसरे से संवादी होती हैं, बहुत कम अवसरों पर एक दूसरे से उलझती हैं फिर भी उनके लक्ष्यों की प्राथमिकता के अंतर से उनमें महत्त्वपूर्ण अंतर भी होता है। इस अंतर को ध्यान में रखना चाहिए। कई बार राजनीतिक परिवर्त्तन सरकार में परिवर्त्तन के आशयों से ही सीमित होकर रह जाता है। लेकिन सरकार में परिवर्त्तन राजनीति में परिवर्त्तन की सही सूचना नहीं भी हो सकता है। राजनीति में परिवर्त्तन का अर्थ होता है शासक और शासित, कई बार इसे शोषक और शोषित के रूप में भी पढ़ना जरूरी होता है, के बीच बहुस्तरीय संबंधों के नियामक कारकों में, विभिन्न हितग्राही समूहों के पारस्परिक संबंधों और सत्ता के साथ उनके संबंधों की जारी सामंजस्य शृँखला में परिवर्तन। राजनीतिक परिवर्त्तन का यह काम वैधानिक स्तर पर होता है और राजनीतिक सत्ता इसके लिए नियम बनाती है। वर्चस्वशाली समूह और उनकी विचार-पद्धति तथा उनकी कार्य

प्रणालियों में बदलाव सामाजिक परिवर्त्तन कहलाता है। सामाजिक परिवर्त्तन का यह काम सांस्कृतिक स्तर पर होता है और समाज सत्ता इसके लिए मन बनाती है। चूँकि सामाजिक परिवर्त्तन का कोई भी प्रयास समाज के वर्चस्वशाली हित-समूहों को प्रभावित करता है, इसलिए वर्चस्वशाली हित-समूह राजनीतिक और सामाजिक परिवर्त्तन की सही मति और गति को नये-नये उलझावों में डालकर वैचारिक और सांस्कृतिक भटकाव का मायावी वातावरण रचता रहता है। यह बहुत ही सूक्ष्म तथा मनोनुकूलन के रूप में होता है। जनमत का एक रूप ऐसा होता है जो समाज के वर्चस्वशाली हित समूहों की इस माया परियोजना को जानबूझकर, और कई बार सामाजिक प्रवाह की बहती धारा के प्रभाव में अनजाने भी, अपने विचार का हिस्सा बना लेता है। जनमत का दूसरा रूप वह होता है जो सामाजिक प्रवाह की बहती धारा के प्रभाव को समझते हुए उसके साथ संघर्षशील होता है और समाज के वर्चस्वशाली हित समूहों की इस माया परियोजना का जानबूझकर, कई बार अनजाने में भी, विरोध रचता है। यहीं हम देख सकते हैं कि औपनिवेशिक वर्चस्व में रह चुके देशों के उत्तर-औपनिवेशिक राज में भी देशी-जनतांत्रिक सत्ताएँ वर्चस्व बनाये रखने की औपनिवेशिक युक्तियों का इस्तेमाल करना सहज ही नहीं छोड़ देती हैं। हमारा अनुभव बताता है कि बिना क्रांति के हुए सत्ता परिवर्त्तन से सर्वांगीण राजनीतिक परिवर्त्तन घटित नहीं हो पाता है।

x. राजनीतिक परिवर्त्तन के क्रम में नियम बनाये जाने के बावजूद सांस्कृतिक स्तर पर सामाजिक मन नहीं बन पाता है। इसलिए नागरिक संहिता में उपकारी नियमों के रहते हुए भी सामाजिक जीवन में सौमनस्य नहीं बन पाता है। यह काम अधूरा रह जाता है। इस अधूरे काम को पूरा करने में साहित्य की बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। अर्थात सामजिकता के वि-औपनिवेशीकरण की दरकार बनी हुई रहती है। राजनीतिक परिवर्त्तन का लक्ष्य सिर्फ सत्ता परिवर्त्तन नहीं होता है, बल्कि सामाजिक परिवर्त्तन तक पहुँचकर ही सार्थक बनता है। इसके लिए आज के जटिल समय में सामजिक अभिप्रेरणाएँ तो चाहिए ही राजनीतिक और आर्थिक अभिप्रेरणाएँ भी चाहिए। स्वाभाविक ही है कि इस काम में राजनीतिक और आर्थिक संदर्भों को झटककर 'सामाजिक स्वायत्तता' के प्रति समर्पित युरोप-केंद्रित 'नव सामाजिक

आंदोलन' जैसा आंदोलन 'स्वतंत्रता, समता ओर बंधुत्व' को हासिल करने का लक्ष्य रखनेवाले आंदोलन की प्रेरणा का आधार नहीं बन सकता है (देखें 5 का xi)। कहना न होगा कि 'स्वतंत्रता का राजनीति' से, 'समता का आर्थिकी' से और 'बंधुत्व का सामाजिकता' से गहरा संबंध होता है। अत: जिस प्रकार 'स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व' को विच्छिन्न करना आत्मघाती होता है, उसी प्रकार 'राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक' प्रसंगों को विच्छिन्न करना भी आत्मघाती होता है। इनके संयोजन-सहयोजन का सूत्र संगठन से निकलता है। संगठन अर्थात, लक्ष्य, विचारधारा, कार्यक्रम, नेतृत्व की व्याघाती प्रवृत्तियों को उनके न्यूनतम स्तर पर ले जाकर उनका इस तरह का अंतर्गुंफन तैयार करना कि वे सह-क्रियाशील[20] मुद्रा में एक दूसरे की संवेदनशीलता से जुड़े रह सकें। इतिहास प्रसिद्ध अनुभव है कि सत्ता पर अधिकार असंगठित बहुसंख्यक का नहीं संगठित अल्पसंख्यक का ही होता है। 'श्रम की सत्ता' भी संगठन से ही स्थापित होती है। दलित अनुभव यह है कि संगठनहीनता के कारण श्रम की सत्ता को स्थापित करने में उसे कामयाबी नहीं मिल पायी।

xi. बदलाव प्रक्रिया से गुजर रही दुनिया के विभिन्न समाजों में आत्मान्वेषण का काम नये सिरे शुरू हुआ है। इसी परिप्रेक्ष्य में आज के 'नव सामाजिक आंदोलन' की गति-मति को समझा जा सकता है। वस्तुत: युरोप केंद्रित यह 'नव सामाजिक आंदोलन' 'उत्तर-आधुनिक' प्रेरणा से संचालित है। यह आंदोलन न तो जीवन के आर्थिक प्रसंगों की बात करता है और न ही राजनीतिक प्रसंगों की। यह नागरिक समाज की स्वायत्तता पर ही पूरा जोर देता है। यह राज-शक्ति से स्वायत्त समाज-शक्ति की आकांक्षा रखता है। यह एक अद्‌भुत आकांक्षा है। अद्‌भुत यह कि यह आंदोलन राज और समाज के संबंधों को किसी सहजता और सातत्य के सहयोजी प्रसंग में न देखकर इन्हें एक दूसरे के धुर विरोधी के ही रूप में सामने लाता है और सामाजिक न्याय के नाम पर मानवाधिकारों का मामला उठाते हुए राज से छिटक जाने की पेशकश करता है। यह सच है कि समाज और राज दोनों एक ही नहीं हैं। जाहिर है कि समाज-शक्ति और राज-शक्ति भी एक ही नहीं हैं। लेकिन आज के समय में समाज-शक्ति हो या राज-शक्ति हो, उन्हें राजनीतिक प्रक्रियाओं की जटिलताओं से विच्छिन्न करना संभव नहीं है। यह तो ध्यान में रखना ही होगा कि राजनीति को सिर्फ राजनीतिक दलों तक

सीमित मानकर चलना, हमें भटकाव में डाल दे सकता है। सही बात तो यह है कि राजनीतिक सहयोजिता की उपेक्षा से सामाजिक न्याय की अवधारणा समझ में ही नहीं आ सकती है। यद्यपि कुछ जीवन प्रसंग वर्ग संदर्भों से बाहर रहकर भी कुछ दूर तक सार्थक ढंग से समझे जा सकते हैं, लेकिन यह कहना बचकाना ही है कि आज की एक ध्रुवीय होती जा रही दुनिया में वर्ग विलुप्त हो गये हैं। वर्ग के वैश्विक आयाम जरूर प्रकट हो रहे हैं (देखें 5 का vi) क्योंकि, 'लोगों को प्रभावित करनेवाले मामले अब सिर्फ राष्ट्र की सीमाओं में सीमित नहीं हैं। एकीकृत दुनिया में लोकतांत्रिक सिद्धांतों का वैश्विक आयाम है, क्योंकि विश्व नेता और शासक राष्ट्रीय नेताओं की तरह ही उनके जीवन को प्रभावित करते हैं। हाल के दिनों में औद्योगिक और विकसित दोनों ही प्रकार के देशों में भूमंडलीकरण विरोधी अभियान में यह नया यथार्थ उभर कर सामने आया है। हालांकि, इनके विभिन्न रूप हैं और विभिन्न कार्यसूचियाँ हैं फिर भी एक बात पर इनमें साम्य है कि विश्व के गरीब लोगों की समस्याओं के लिए विश्व संस्थाएँ और विश्व नेता जबावदेह हैं। इसे आपातकालीन समस्या माननेवाले ये विरोधी अकेले नहीं हैं।'[21]

xii. संभवत: जातीय या सामाजिक उपविभाजनों के अंतर्गत वर्गबोध को समझने के साथ ही भूमंडलीय यथार्थ के अंतर्गत उसके वैश्विक आयाम को पहले की अपेक्षा अधिक आसानी से स्पष्ट किया जा सकेगा। लेकिन वर्गबोध तो रहेगा ही। दुनिया में वर्गों की अवस्थिति या वर्गविभाजन का कारण दुनिया की बहुध्रुवीयता नहीं थी, इसलिए दुनिया के एकध्रुवीय, जो हकीकत से अधिक बोध है, होने से वर्गसंरचना में ही क्या अंतर आ सकता है! उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि पर्यावरण को लेकर चलनेवाला आंदोलन एक गैर-वर्गीय आंदोलन है। लेकिन क्या सचमुच? पर्यावरण के उच्चवर्गीय, मध्यवर्गीय और कामगारों एवं आदिवासियों के जुड़ाव, प्रभाव और मुद्दे क्या बिल्कुल एक ही हैं? 'नव सामाजिक आंदोलन' समाज के वि-राजनीतिककरण पर इतना जोर देता है तो निश्चय ही इसके पीछे राजनीति की इकहरी और राजसत्तात्मक समझ ही हो सकती है। वैसे कभी-कभी वि-राजनीतिकरण की प्रक्रिया की प्रेरणाएँ भी राजनीति की अतल गहराइयों से निकल रही होती हैं! सामाजिक परिवर्त्तन के लिए किया गया कोई भी प्रयास श्रम और संपत्ति के संबंधों में

बदलाव, संसाधानों के वितरण, चिरंतन विकास के लिए भूमंडलीय पर्यावरण के संदर्भों से जोड़कर ही संभव होता है; राजनीतिक उपकरणों के उपयोग के बिना यह संभव नहीं हो सकता है।

xiii. सामाजिक परिवर्त्तन के प्रयास मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सवादी संदर्भ से भी समझे जा सकते हैं। मार्क्सवादी दृष्टिकोण समाज में व्यापक ओर क्रांतिकारी परिवर्त्तन की आवश्यकताओं के विभिन्न स्तरों को स्पष्ट करता है। मार्क्सवाद के अनुसार सामाजिक परिवर्त्तन के आधार कारण आर्थिक संरचना में अंतर्निहित होते हैं। आज के भूमंडलीय वातावरण में वर्ग के विलोप और वर्ग के स्थान पर समुदाय की अवधारणा की सिद्धांतिकी प्रस्तावितकर विश्लेषण और संघर्ष के सबसे कारगर औजार को भोथरा किया जा रहा है। आज के समुदाय कबिलाई नहीं हैं। आज जीवन के सारे संदर्भों में वर्गविभाजन पहले से कहीं अधिक तीखा है। यह मानने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि समुदाय भी वर्ग-विभक्त होता है और समाज भी। वर्ग-विभक्त समाज में श्रम और सत्ताधिकरणों के परस्पर विरोधी हितों के संघर्ष अंतर्विरोध पैदा करते हैं। सत्ताधिकरण राजशक्ति के साथ-साथ धर्म, शिक्षा, जनसंचार आदि का इस्तेमाल करते हुए शेष समाज पर अपनी हितैषी विचारधारा की लदनी करता है। इस लदनी के माध्यम से वह शेष समाज को अनुकूलित और नियंत्रित करता है। ऐसी स्थिति में सत्ताधिकरणों के वर्चस्व को तोड़ने के लिए इस लदनी को उतार फेकना जरूरी होता है। लदनी उतारने का यह काम क्रांतिकारी सामाजिक परिवर्त्तन की प्रक्रिया में ही संभव होता है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण में संघाती आर्थिक हितों की पेचीदगियाँ ही प्रमुख रहती है। इस पर पूरा जोर दिये जाने के कारण सामजिक एकता और विभाजन के वर्गेतर आधार पर कई बार अपेक्षित ध्यान दे पाना संभव नहीं हो पाता है। इधर सामाजिक एकता और विभाजन के अन्य आधार के रूप में जातीयता और धर्म सहित अन्य सांस्कृतिक कारकों की ओर भी समुचित ध्यान दिये जाने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी है। अब सांस्कृतिक संदर्भों का नये सिरे से मूल्याँकन करने और वर्ग चेतना के विकास की एक रेखीय अवधारणा की जगह उसकी बहुआयामिता की ओर भी ध्यान दिया जाना आवश्यक माना जा रहा है। बहुआयामिता पर ध्यान देते हुए भी हमें वर्गीय चेतना के संदर्भ में संरचनागत अंतर्विरोधों पर भी ध्यान बनाये रखना होगा।

6. दलित राजनीति की सीमा और संभावना

i. 'दलित विमर्श की भूमिका' में कँवल भारती के निष्कर्ष से दलित राजनीति की सीमा और संभावना पर बात शुरू की जा सकती है। उनका निष्कर्ष है, 'डा. आंबेदकर ने कहा था कि दलित समान विचारधारा वाले दलों से मिलकर अपनी राजनीतिक शक्ति बना सकते हैं। लेकिन दलितों के लिए समान विचारधारावाला दल न काँग्रेस है और न भाजपा, वह मार्क्सवादी दल ही हो सकता है। पर मौजूदा मार्क्सवादी दल भाजपा और काँग्रेस के ही लग्गू-भग्गू बने हुए हैं। इसलिए रेडिकल मार्क्सवाद के साथ रेडिकल आंबेदकरवाद के गठन की सख्त जरूरत है। डा. राजाराम की मानें तो तो रूस में मार्क्सवाद के साथ लेनिनवाद को मिलाकर रूसी जनता ने क्रांति की, चीन में मार्क्सवाद के साथ माओवाद को मिलाकर चीनी जनता ने क्रांति की, तो भारत में मार्क्सवाद के साथ आंबेदकरवाद को मिलाकर क्रांति क्यों नहीं हो सकती?'[22] काँग्रेस की बात कुछ-कुछ समझ में आ सकती है। लेकिन भाजपा? गंभीर चिंतन के निष्कर्ष को तत्काल के ऐसे दबावों ओर भटकावों से बचाना नहीं चाहिए? तत्काल के ऐसे दबावों से कई सीमाएँ निकल आती हैं। 'मार्क्सवाद के साथ लेनिनवाद को मिलाकर रूसी जनता ने क्रांति की' किसके नेतृत्व में की? लेनिन के नेतृत्व में! 'चीन में मार्क्सवाद के साथ माओवाद को मिलाकर चीनी जनता ने क्रांति की' किसके नेतृत्व में की? माओ के नेतृत्व में! 'भारत में मार्क्सवाद के साथ आंबेदकरवाद को मिलाकर क्रांति' किसके नेतृत्व में हो सकती थी? आंबेदकर के नेतृत्व में! क्यों नहीं हो सकी? इसका जवाब कौन देगा ? 'समान विचारधारा' का सुझाव देनेवाले डॉ. आंबेदकर का 'असमान विचारधारावाले' काँग्रेस के साथ मिलाप और कम्युनिस्ट पार्टी के साथ उनके संबंधों की व्याख्या में भी कठिनाई आ सकती है। इतिहास से संवाद करने की जरूरत होती है, बार-बार होती है, लेकिन इतिहास का मुँह चिढ़ाना इतिहास से संवाद करना नहीं होता है। क्रांति एक चमक है। इससे चौंधिया जाने के बहुत सारे अवसर आते हैं। क्रांति का अपना रोमान होता है, लेकिन रोमान से क्रांति नहीं होती।

काश कि क्रांति इतनी आसान हुआ करती! बहरहाल आज की राजनीति की समस्या ओर दलित राजनीति की समस्या और इन समस्याओं के पारस्परिक सरोकारों पर बात करते हुए आज की राजनीतिक चुनौतियों के भारतीय परिप्रेक्ष्य पर बात करना अधिक प्रासंगिक है।

ii. 'विविधता में एकता' को 'फैलाकर विषमता में एकता' तक भी चाहे क्यों न ले जाया जाए, सच तो यह है कि भारतीयता परिप्रेक्ष्य बुरी तरह विभंजित रहा है। इस विभंजन में कई कारकों की सक्रिय भूमिका होती है। यहाँ दलित सिर्फ दलित नहीं होता है, मराठी, हिंदी, पंजाबी, काँग्रेसी, बहुजनवादी, भाजपाई, दरिद्र-अमीर शिक्षित-अशिक्षित दलित भी होता है। 'हम' और 'अन्य' के निर्धारण के ढेर-सारे वास्तविक और आभासी कारक एक साथ सक्रिय रहते हैं। इन कारकों में अंतर्विरोध ही नहीं, अंतर्व्याघात भी होता है। इन कारकों को स्थगित या निष्क्रिय करना बहुत मुश्किल है। मार्क्सवाद के पूर्ण जानकार और उस पर भरपूर भरोसा रखनेवाले भी अपने घर में बैठे-बैठे कम्युनिस्ट नहीं हो जाते हैं। कम्युनिस्ट होने के लिए जरूरी है, संगठित होना, संगठित करना, बदलाव की रणनीति पर संगठित और सुनियोजित तरीके से अमल करना, समाज के वर्गीय आधार की समझ और सहानुभूति को तीव्रता के साथ उभारना। कम्युनिस्ट अपने-आप में महाविशेषण है। इसके साथ आनेवाला दूसरा विशेषण या तो खुद खंडित हो जाता है, या इसे खंडित कर देता है। जिस प्रकार 'ब्राह्मण कम्युनिस्ट', 'राजपूत कम्युनिस्ट', 'हिंदी कम्युनिस्ट', 'बंगाली कम्युनिस्ट' आदि नहीं होता है उसी प्रकार 'दलित कम्युनिस्ट' भी नहीं हो सकता है। लेकिन हमारी मुसीबत यह है कि हमारे यहाँ 'ब्राह्मण कम्युनिस्ट' और 'दलित कम्युनिस्ट' हो सकते हैं। 'हिंदी कम्युनिस्ट' या 'बंगाली कम्युनिस्ट' भी होते हैं! माना जाना चाहिए कि कम्युनिस्ट होना थोड़ा मुश्किल काम है। वर्गीय आधार के अनुसार व्यवहार तक पहुँचने के पहले वर्गेतर आधारों को समझना और उसे निष्प्रभ करना दायित्व है।

iii. वर्ग-स्वार्थ के अलावे भी इसके कारणों की खोज की जानी चाहिए। पहली नजर में तो यह भी लगता है कि उच्च वर्ण से संबंधित वे लोग भी जिन्हें वर्ग-स्वार्थ के कारण

स्वाभाविक रूप से दलित-स्वार्थ के निकट होना चाहिए या हैं, वर्गीय आधार को अस्वीकृतकर उभरती हुई दलित संदर्भ की 'प्रतिरोधी चेतना' को 'प्रतिशोधी चेतना' मानकर डरे और बिदके रहते हैं। इस डर के कारण ही दलित सवाल के उठते ही सवर्ण मेधा बौखला जाती है। दूसरी बात, संवेदनशील और व्यापक अर्थ में प्रगतिशील सवर्ण इस बात से भी बौखलाये हुए रहते हैं कि जिस हिंदुत्ववादी राजनीतिक शक्ति के मनुष्य-विरोधी होने की बात उनके मन में गहरे जमी हुई रहती है उसी के साथ 'दलित राजनीति' के प्रतिनिधियों के द्वारा उन्हें जोड़ दिया जाता है। वे इस राजनीतिक शक्ति और चेतना से विजड़ित किये जाने की स्थिति से भी बहुत विचलित होते हैं। तीसरी बात, संवेदनशील सवर्ण के सामने अपने तथाकथित संस्कारों या कु-संस्कारों से साथ आंतरिक आत्म-संघर्ष (सामाजिक संघर्ष चल नहीं रहा और जो आंतरिक आत्म-संघर्ष सामाजिक-संषर्ष की सक्रियता में शीघ्रता से बदल नहीं जाता है, वह अ-क्रिय आंतरिक आत्म-संघर्ष स्वाभाविक रूप से अविश्वसनीय होता जाता है) की व्यावहारिक विश्वसनीयता बहाल रखने की चुनौती के अलावे एक बड़ी कठिनाई यह है कि दलितवादी दलितों की नजर में वे अपने सवर्ण होने के अर्थ को उसी तरह बदल नहीं पाते हैं, जिस तरह अपने दलित होने के अर्थ को हिंदुत्ववादी सवर्णों की नजर में दलित नहीं बदल पाते हैं। यह दुष्चक्र है। यानी अपने मूल्यांकन के लिए जिस आधार को नकारा जाता है, दूसरों के मूल्यांकन के लिए उसी आधार को दृढ़ता से स्वीकार कर लिया जाता है। इस दुष्चक्र को तोड़ना 'दलित राजनीति' की चुनौती और न तोड़ पाना समस्या है।

iv. सहानुभूति बनाम स्वानुभूति के द्वंद्व को समझना जरूरी है। अक्सर कहा जाता है कि 'घोड़ा को समझने के लिए घोड़ा होना जरूरी नहीं है'। इस रूपक के नव्य-न्याय का तर्क इतना संगत नहीं है कि इससे सहानुभूति बनाम स्वानुभूति के द्वंद्व की गुत्थी खुल जाये। इस नव्य-न्याय का तर्क सामने रखने के बाद शीघ्रता से नैय्यायिक लोग भावानुप्रवेश जैसे महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक सूत्र का सहारा लेते हैं। यह भावनुप्रवेश क्या है? यही न कि जो हम नहीं हैं, मनोवैज्ञानिक रूप से वह होकर उसके जैसा अनुभव करना। इसके अतिरिक्त भावनुप्रवेश का क्या अर्थ हो सकता है? भावानुप्रवेश

के माध्यम से 'घोड़ा बनने के लिए तैयार रहना', 'घोड़ा' को समझने के अधिकार की बुनियादी शर्त है। न सिर्फ तैयार रहना, बल्कि अधिकतम संभाव्य स्तर तक 'घोड़ा' बनने में सक्षम और ईमानदार होना भी। 'घोड़ा' के दुख पर बात करेंगे और 'घोड़ा' बनना भी नहीं चाहेंगे! यह नहीं चलेगा। 'डि-क्लास' होने की जरूरत खत्म तो नहीं हो गई है! धूमिल ने झूठ थोड़े न कहा था कि लोहा का स्वाद लुहार और घोड़े, जिसके मुँह में लगाम होती है, एक ही नहीं होता है। दुखी तो सभी हैं। 'घोड़ा' भी और 'घुड़सवार' भी। लेकिन 'घोड़ा' और 'घुड़सवार' का दुख एक ही हो, यह कैसे हो सकता है? इसलिए दलित संदर्भ को समझने में 'स्वानुभूति' और 'सहानुभूति' के मुद्दे पर नव्य-न्याय का तर्क असंगत है। 'दलित राजनीति' की समस्याओं को सिर्फ अवधारणाओं के आधार पर समझना मुश्किल है, इसके लिए सामाजिकताओं के अंदर सम्मान के अवसर की परित्यक्त मनोभूमि की पैमाइश से भी कुछ हद तक जरूरी है। स्वानुभूति के अभाव की प्रतिपूरक ही सहानुभूति हो सकती है, विस्थापक नहीं। कहना न होगा, सहानुभति वस्तुत: स्वानुभूति का ही विस्तार है, एवजी नहीं। 'जाके पैर न फटे बेवाई, वो क्या जाने पीर पराई', तो बाबा तुलसीदास ही कह गये हैं। यदि दलित-समाज को लगता है कि उनके दुख का उतना भी निदान मुख्यधारा की सहानुभूतिमूलक राजनीति से नहीं हुआ जितना कि जनतंत्र में सामान्यत: संभव हुआ करता है और इसलिए वे मुख्यधारा की राजनीति से अलग 'दलित राजनीति' की ओर बढ़ रहे हैं, तो इसे समझना होगा। आजादी के इतने दिनों के बाद भी दलितों की सामाजिकता के सवाल, हजारों वर्ष पुरानी गुत्थियों से प्राणरस ग्रहण कर रहे हैं, तो क्या कहा जाये! दुख को तर्क से व्याख्यायित किया जा सकता है लेकिन जरूरी नहीं कि वह व्याख्या संवेदना का भी हिस्सा बन ही जाये। असल में यह सवर्ण डर है जो बुद्धि और चेतना को कुतर्क के पथ पर भटकाता है। इस डर को पहचानने की जरूरत है। पहचानेंगे नहीं तो लड़ेंगे क्या? कौन पहचानेगा? यह काम 'दलित राजनीति' और 'वामपंथी राजनीति' दोनों को मिलकर करना होगा। 'दलित राजनीति' और 'वामपंथी राजनीति' दोनों के सामने एक दूसरे की संभावनाओं को समझते हुए अपनी सीमाओं का अतिक्रमण कर मिलने की पहल करने की गहरी चुनौती है।

v. दलितों के दुख को नहीं समझा गया तो 'स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व' को नव-साम्राज्यवाद के विस्तार की आकांक्षा से उपजी फासीवादी बर्बरता, जिसका एक सिरा पुरातन धर्म से जुड़ा है तो दूसरा सिरा नूतन पूँजी-बाजार से जुड़ा है, की चपेट में आने से बचाना मुश्किल है। वैसे भी, नाना ऐतिहासिक कारणों से वर्गीय आधार पर समूह बनने की पुष्ट संभावना के नहीं होने के कारण ही धर्म के आधार पर समूह बनता है और संप्रदायबोध को सामाजिक आधार प्रदान करता है। समाज इस अनुचित आधार पर बँटकर पहले से लहुलुहान है। दलित-चेतना के विश्वसनीय वर्गीय आधार की शीघ्र तलाश न की जा सकी तो भारतीय समाज के आंतरिक विभाजन की दरारों को पाटना तो दूर, उनकी फाट रोकना भी बहुत ही मुश्किल होगा। इस तलाश के लिए दलित दुख को महसूस करना होगा। इसके लिए किसी पूर्वनिर्धारित और कदाचित उससे भी अधिक तात्कालिक राजनीतिक लाइन से थोड़ा अलग होकर भी सोचने की जरूरत है।

vi. अभी की राजनीतिक लाइन से हटने का मतलब है संसदीय प्रक्रियाओं की तात्कालिक बाध्यताओं पर काबू पाते हुए दीर्घकालिक राजनीति के जोखिमों को उठाने की तैयारी करना। 'विरोधाभासी जीवन' की विसंगतियों को दूर करने, 'स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व' को हासिल करने के लिए 'हिंदुत्व' और 'उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण' से संघर्ष को एक साथ एवं सकारात्मक ढंग से चलाने के लिए 'दलित राजनीति' और 'वामपंथी राजनीति' को नई समझदारी और सहमेल की नई गुंजाइश विकसित करनी होगी। इस गुंजाइश का न बनना अपने-आप में समस्याओं की जड़ है। एक सामान्य भारतीय संस्कृति के विकास के लिए यह जरूरी है, क्योंकि, 'यह बात माननी ही होगी कि ऐतिहासकि रूप से एक सामन्य भारतीय संस्कृति का अस्त्त्वि कभी नहीं रहा है। ऐतिहासिक रूप से भारत तीन रहा है, ब्राह्मण भारत, बौद्ध भारत और हिंदू भारत। इन तीनों की अपनी अलग-अलग संस्कृति रही है।.... यह बात भी माननी होगी कि मुसलमानों के वर्चस्व के पहले ब्राह्मणवाद और बौद्धवाद के बीच गहरे नैतिक संघर्ष का भी इतिहास रहा है।'[23] जाहिर है जब 'पूँजी

की सत्ता' अधिराष्ट्रीय हुई जा रही है, 'श्रम की सत्ता' को बचाने के लिए राष्ट्रीय सरोकारों को नये सिरे से टटोलना होगा तभी 'सही अंतर्राष्ट्रीयता', 'आंकाक्षित पर्यावरणीय भूमंडलीकरण' और 'विश्वमानवतावाद' की नवनैतिकता का विकास हो पायेगा। इसके लिए 'आत्म निर्णय का अधिकार' ही काफी नहीं है, 'आत्मान्वेषण का धैर्य', 'आत्मसंयोजन का साहस' और 'आत्म विस्तार का विवेक' भी चाहिए; और इन सब को नये सिरे से संगठित करने की इच्छा-क्रिया-शक्ति भी चाहिए। तभी फ़ैज को दुहराने का साहस करते हुए कोई कह सकेगा कि 'ऐ ख़ाक-नशीनों उठ बैठो, वो वक़्त क़रीब आ आ पहुँचा है/ जब तख़्त गिराये जायेंगे, जब ताज उछाले जायेंगे/ अब टूट गिरेंगी ज़ंजीरें, अब ज़िन्दानो[24] की खैर नहीं/ जो दरिया झूम के उट्ठे हैं, तिनकों से न टाले जायेंगे'[25]। लोग जुटेंगे और जंजीरें टूटेंगीं। जंजीरें टूटती आई हैं, जंजीरें टूटेंगी और जरूर टूटेंगी।

---

[1] मानव विकास रिपोर्टः1996 (HDR-1996 : Growth as ameans to human development)
[2] Gail Omvedt : Ambedkar and After: The Dalit Movement in India: Social Movements and the State, Edit. Ghanshyam Sahah (Sage Pub.2002) ý
[3] 'Interwoven' के अर्थ में
[4] भारतेंदु हरिश्चंद्र की प्रसिद्ध उक्ति
[5] एम के गाँधीः वर्णाश्रम धर्म, नवजीवन ट्रस्ट, 1926
[6] सुमित सरकारः आधुनिक बारत-1885-1947 : राजकमल प्रकाशनः हरिजन आंदोलन
[7] सुमित सरकारः आधुनिक बारत-1885-1947 : राजकमल प्रकाशनः हरिजन आंदोलन
[8] रामशरण शर्माः प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएः परिशिष्ट – 2: गोपति से भूपतिः राजकमल प्रकाशनः 5वीं आवृत्ति 2001
[9] सुमित सरकारः आधुनिक बारत-1885-1947 : राजकमल प्रकाशनः हरिजन आंदोलन
[10] रवींद्रनाथ ठाकुरः भारत में राषट्रीयता 1917: सामाजिक क्रांति के दस्तावेजः सं. डॉ शंभुनाथः वाणी प्रकाशन 2004
[11] सुमित सरकारः आधुनिक बारत-1885-1947 : राजकमल प्रकाशनः हरिजन आंदोलन
[12] Gail Omvedt : Ambedkar and After: The Dalit Movement in India: Social Movements and the State, Edit. Ghanshyam Sahah (Sage Pub.2002)
[13] भीमराव आंबेदकरः संविधान सभा में दिये गये भाषण सेः सामाजिक क्रांति के दस्तावेज-2:सं. डॉ शंभुनाथः वाणी प्रकाशन, 2004
[14] सुमित सरकारः आधुनिक बारत-1885-1947 : राजकमल प्रकाशनः हरिजन आंदोलन
[15] सुमित सरकारः आधुनिक बारत-1885-1947 : राजकमल प्रकाशनः हरिजन आंदोलन
[16] भीमराव आंबेदकरः संविधान सभा, नवंबर 1949 में दिये गये भाषण सेः सामाजिक क्रांति के दस्तावेज-2:सं. डॉ

शंभुनाथः वाणी प्रकाशन, 2004
[17] ’Reservation Cover’ के अर्थ में
[18] Huntington : Clashes of Civilization
[19]’Trans-Naionality’ के अर्थ में
[20] ’corresponding’ के अर्थ में
[21] मानव विकास रिपोर्ट 2002
[22] कँवल भारतीः दलित विमर्श की भूमिकाः पुनश्च – दलित और वामः कुछ जरूरी सवालः इतिहासबोध प्रकाशन, 2 परि. सं. 2004
[23] Dr. Babasaheb Ambedkar : "Revolution and Counter Revolution in Ancient India” Writings and speeches, Volume 3 (Bombay Govt of Maharashtra, 1987)
[24] जेलखाना
[25] फ़ैज अहमद फ़ैजः प्रतिनिधि कविताएँ : राजकमल पेपर बैक्स – 2003 : तराना